नई समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक

बिगुल

मासिक अखबार • वर्ष 1 अंक 8
अगस्त 1999 • तीन रुपये • बारह पृष्ठ

15 अगस्त : जश्ने-आजादी या मातमे-बर्बादी?

15 अगस्त, 1947 की गद्दारी को याद करो!

जनता की सही आजादी के लिए संघर्ष की नई तैयारियों में जुट जाओ!

सम्पादकीय

15 अगस्त 1947 की आजादी को शायर **जोश मलीहाबादी** ने उसी समय "**मातमे-आजादी**" कहा था। फैज ने लिखा : "**ये दाग़-दाग़ उजाला, ये शबगुज़ीदा सहर**" और **खलीलुर्रहमान आज़मी** ने यह ख्याल जाहिर किया : "**अभी वही है निज़ामे कोहना, अभी तो ज़ुल्मो-सितम वही है।**" ऐसे ही कुछ विचार कवि **शंकर शैलेन्द्र, केदारनाथ अग्रवाल** और दूसरों ने भी प्रकट किये।

अली सरदार जाफरी का सवाल था :

"**कौन आजाद हुआ**
किसके माथे से सियाही छूटी
मेरे सीने में अभी दर्द है महकूमी का
मादरे-हिन्द के चेहरे पे उदासी है वही"

उस आजादी के बाद गुजरी हुई आधी सदी से भी कुछ अधिक समय के दुखदाई सफरनामे ने इन शायरों-कवियों के शक और अन्देशे को सौ फीसदी सही साबित किया है।

देश की एक अरब आबादी में से तकरीबन 75 करोड़ मेहनतकश जनता और 15 करोड़ आम मध्यवर्गीय आबादी को क्या मिला है इस आजादी से ?—भुखमरी, बेरोजगारी-मंहगाई से तबाही-बर्बादी, पुराने जोरो-जुल्म का बदस्तूर जारी सिलसिला और शोषण-उत्पीड़न के नये-नये, ज्यादा घातक तौर-तरीके, छंटनी-तालाबंदी, जगह- जमीन से उजड़कर महानगरों

कैसी खुशियां? आजादी का कैसा शोर?
राज कर रहे कफनखसोट, मुर्दाखोर

में दिहाड़ी मजदूर बनना, दवाओं के बिना तरह-तरह की बीमारियों-महामारियों से मरना और चोरों-लुटेरों-भ्रष्टाचारियों के लूट तंत्र को जनतंत्र के नाम पर ढोना तथा 'मेरा भारत महान' और 'सारे जहां से अच्छा..' के गीत और नारों का कानफोड़ू शोर बर्दाश्त करते रहना।

जो जनतंत्र महज 10 फीसदी ऊपर वालों के लिए जनतंत्र और 90 फीसदी नीचे की आबादी के लिए तानाशाही है, रसातल का बदबूदार अंधेरा है, उसी के पूरे टीम-टाम के खरबों रुपये सालाना खर्च को जनता उठाती है। वह पेट पर पट्टी कसती जाती है और नेताशाही-नौकरशाही तथा भाड़े के कलमघसीट गुलछर्रे उड़ाते हैं।

ये नेता-अफसर और बिके हुए बुद्धिजीवी सेवा तो करते हैं उन्हीं साम्राज्यवादियों, देशी पूंजीपतियों, फार्मरों-कुलकों, बड़े व्यापारियों, दलालों-कमीशनखोरों आदि की जो मुनाफा के नाम पर व्यापक मेहनतकश जनसमुदाय के नस-नस से रक्त निचोड़ रहे हैं, पर इनकी विलासिला का खर्च भी उसी जनता से वसूला जाता है। और यदि जनता इस अंधेरगर्दी के खिलाफ चूं-चपड़ भी करती है तो फिर अंग्रेजों से विरासत में मिला राज्यसत्ता का डण्डा तो है ही। ऐसी सूरत में जनतंत्र का रामनामी दुपट्टा उतर जाता है और फिर पूंजीवादी तानाशाही के सभी हरबे-हथियार सामने होते हैं।

पूंजीवादी संसद और चुनाव के स्वांग की असलियत जनता के सामने है। अरबों के खर्च से जनतंत्र का यह नाटक पहले हर पांच सालों पर हुआ करता था, पर अब तो हर डेढ़-दो साल में ही उखाड़-पछाड़ हो जा रही है। लगभग 30 अरब रुपये के खर्च से एक चुनाव हुआ, उसके डेढ़ वर्षों बाद दूसरा चुनाव और फिर करीब पौने दो वर्षों बाद तीसरा चुनाव सितम्बर-अक्टूबर में होने जा रहा है जिसके बारे में अभी से लगभग तय है कि वह भी इस या उस गठबन्धन की त्रिशंकु सरकार ही होगी।

●

आज यह बात दिन के उजाले की तरह साफ हो चुकी है कि 1947 में जनता के वीरतापूर्ण संघर्षों और अमर शहीदों की कुर्बानियों के चलते अंग्रेजों को इस देश से जाना तो पड़ा पर भारतीय पूंजीपतियों की प्रमुख प्रतिनिधि पार्टी कांग्रेस ने जनता के सपनों और आजादी का सौदा कर लिया। आजादी सिर्फ ऊपर के बीस फीसदी धनिकों को मिली।

भारत के पूंजीपति अपने नये लूटतंत्र को तभी चला सकते थे और उन्नत कर सकते थे जबकि वे विश्व पूंजीवादी तंत्र के चौधरियों—साम्राज्यवादी ताकतों के हितों की भी हिफाजत और सेवा करते। साम्राज्यवाद के युग में किसी भी नव स्वाधीन पूंजीवादी देश की स्वाधीनता सीमित ही हो सकती थी। वह विश्वव्यापी इजारेदारियों के प्रभुत्व से आर्थिक तौर पर मुक्त नहीं हो सकता था। यही कारण था कि 1947 में सत्तासीन भारतीय पूंजीपतियों ने विश्व पूंजीवाद के दायरे में रहकर पूंजीवादी विकास का रास्ता चुना, जिसमें विदेशी लुटेरों का लूटने को हक बना रहा और जनता की नस-नस से खून निचोड़ा जाता रहा।

आजादी के समय क भाषण और

(पेज 9 पर जारी)

अंदर के पृष्ठों पर

बिगुल के लक्ष्य और स्वरूप पर जारी बहस—

• पी.पी. आर्य का पत्र : कूपमण्डूकी आर्तनाद और शेखीबाजी भरे धर्मोपदेश का पिटारा 6
• भारतीय मजदूर आन्दोलन की पश्चगामी यात्रा के हिरावल "सेनानी" 6
युद्धोन्माद भड़काने में बुर्जुआ मीडिया की भूमिका 2
पूर्वोत्तर रेलवे का यांत्रिक कारखाना : मजदूर नहीं चेते तो वर्कशापों में चमगादड़ लटकेंगे 3
बीमा क्षेत्र का निजीकरण : कुछ सवाल जिनपर सोचना जरूरी है 4
समाजवादी परियोजनाओं को पुनर्जीवन 8
मार्क्सवाद तथा सुधारवाद—*लेनिन* 8
हथियार और पूंजीवाद—*लेनिन* 8
मजदूर नायक : क्रान्तिकारी योद्धा 11
कविताएं/*शंकर शैलेन्द्र, नागार्जुन* 11

भारत में क्रान्तिकारी वामपंथी आन्दोलन की समस्याएं : एक बहस

सवाल को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखना होगा!

(पहली किश्त)

भारत के क्रान्तिकारी वामपंथी आन्दोलन में हर वर्ष कुछ एकताओं और कुछ फूटों का सिलसिला विगत लगभग चौथाई शताब्दी से लगातार जारी है।

कुछ वर्षों पहले तक, बीच-बीच में होने वाले कुछ बड़े संगठनों की एकता से कतारों में नई आशाओं का संचार हुआ करता था। अब वह भी नहीं होता। एक ठहराव की-सी स्थिति बनी हुई है फिलहाल। हम

अनादि चरण

मार्क्सवादी जानते हैं कि ठहराव यदि टूटता नहीं तो चीजें पीछे जाती हैं। ठहराव के लम्बे समय तक बने रहने का अर्थ ही चीजों का पीछे जाना होता है।

साहसी और भविष्य के प्रति आशावान सर्वहारा क्रान्तिकारियों को आज यह स्वीकारना पड़ेगा कि भारतीय क्रान्तिकारी वामपंथी शिविर का गतिरोध, तमाम एकताओं और एकता-प्रयासों के शोरगुल के बावजूद, वस्तुतः वहां जा पहुंचा है कि सांगठनिक ढांचे नहीं, बल्कि राजनीति और विचारधारा की साझी विरासत—साझी धरोहर भी टूट-बिखर रही है। क्रान्तिकारी संगठनों के भीतर एक ही साथ तमाम गैर सर्वहारा रुझानें और प्रवृत्तियां दिखाई पड़ रही हैं।

सबसे अहम बात है कि बहुतेरे संगठनों ने बोल्शेविज्म के बुनियादी सांगठनिक उसूलों

(पेज 5 पर जारी)

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

आपकी बात

कौन मनावे पन्द्रह अगस्त?

कुछ वर्षों पहले भोजपुरी की एक कविता सुनी थी 15 अगस्त की आजादी के जश्न पर। बिगुल के अगस्त अंक के पाठकों के लिए भेज रहा हूं :

सब केहू परेशान बा
सब केहू त्रस्त बा
मार पटक के, जे कहे
पन्द्रह अगस्त बा!

और अब स्वरचित कुछ पंक्तियां :

मंहगाई औ' बेकारी से
जनता की हालत है पस्त।
आजादी का जश्न, सभी
सड़कों पर संगीनों की गश्त।
देशभक्ति का 'बिजनेस' करते
सारे चोर-लुटेरे मस्त।
हाड़ गलाते, खून जलाते
मेहनत करने वाले त्रस्त।
'भूखे भजन न होंहि गोपाला'
कौन मनावे पन्द्रह अगस्त!

— शिवचरण साहू,
बस्ती।

भारत-पाकिस्तान में युद्धोन्मादी जुनून: सत्ताधारियों की चाल

— 'युद्धोन्मादी अन्धराष्ट्रवाद का विरोध करो!' -

'बिगुल' के जून-जुलाई '1999 अंक का सम्पादकीय भारतीय शासक वर्गों और वर्तमान भाजपा गठबंधन सरकार द्वारा फैलाये जा रहे अन्धराष्ट्रवादी जुनून का पर्दाफाश करता है। यह एकदम स्पष्ट है कि बुनियादी समस्याओं से जनता का ध्यान भटकाने के लिए ही तथाकथित ''देशभक्ति'' का सम्मोहन-मंत्र फूंका गया है। भारत-पाकिस्तान—दोनों ही देशों की मेहनतकश जनता साम्राज्यवाद और पूंजीवाद के जुए तले पिस रही है। सीमा पर उसी मेहनतकश जनता के बेटों को बलि का बकरा बनाया जाता है। दोनों ही देशों के मजदूरों-किसानों और परेशानहाल मध्यवर्गीय लोगों के असली दुश्मन उनके देश के भीतर हैं, जो उनपर हुकूमत कर रहे हैं। मुझे **जर्मनी के कवि ब्रेष्ट** की एक कविता इस सन्दर्भ में बहुत सटीक लगती है—

''जब कूच हो रहा होता है
बहुतेरे लोग नहीं जानते
कि दुश्मन उनकी ही खोपड़ी पर
कूच कर रहा है।
वह आवाज जो उन्हें हुक्म देती है
उन्हीं के दुश्मन की
आवाज होती है
और वह आदमी जो दुश्मन के
बारे में बकता है
खुद दुश्मन होता है।''

लाहौर बस-यात्रा के तुरत बाद कारगिल में युद्ध पर भी ब्रेष्ट की ही एक और कविता याद आती है :

''नेता जब शांति की बात करते हैं
आम आदमी जानते हैं
कि युद्ध सन्निकट है
नेता जब युद्ध को कोसते हैं
मोर्चे पर जाने का आदेश
हो चुका होता है।''

—मीनाक्षी, गोरखपुर

एक महत्वपूर्ण पत्र

युद्धोन्मादी जुनून भड़काने में बुर्जुआ मीडिया की भूमिका अवश्य रेखांकित की जानी चाहिए!

बिगुल के जून-जुलाई '99 अंक' के संपादकीय अग्रलेख 'युद्धोन्मादी अंधराष्ट्रवाद का विरोध करो' की यह बात शत-प्रतिशत सही है और इसलिए मेहनतकश अवाम को यह सच्चाई बतानी ही होगी कि ''सीमा पर युद्ध या तनाव दोनों देशों की जनता का ध्यान बुनियादी समस्याओं से भटकाने की एक शासकवर्गीय चाल है।'' दोनों देशों की जनता की आपस में कोई दुश्मनी नहीं है, पर युद्ध का खरबों का खर्च वहीं उठाती है, उजड़ती भी वही है और जान भी आम घरों से आने वाले जवानों की ही जाती है। जनता देश के भीतर के क्रान्तिकारी संघर्ष से मुंह मोड़ लेती है। साम्राज्यवादियों के हथियार बिकते हैं और युद्ध से जर्जर अर्थव्यवस्थाओं की मदद के नाम पर उनकी लूट का शिकंजा और अधिक मजबूत हो जाता है।

एक अहम बात जिसकी अग्रलेख में चर्चा अवश्य होनी चा।हिए थी, वह है युद्धोन्माद पैदा करने में अखबार-रेडियो-टेलीविजन की भूमिका! हर युद्ध में पूंजीवादी प्रचार-तंत्र यह भूमिका निभाता रहा है।

कई एक राष्ट्रीय और क्षेत्रीय अखबारों में बुद्धि बेचने वाले और भाड़े की कलमनवीसी करने वालों ने सरकार को यह राय दी गई कि लगे हाथों पाकिस्तान से आखिरी हिसाब भी चुकता कर लिया जाना चाहिए, और यह कि, यही मौका है कि पूरा कश्मीर दखल कर लेना चाहिए। कुछ ने यह राय दी कि भारत को चाहिए कि वह पाकिस्तान में भी अलगाववाद को हवा देकर उसके कुछ और टुकड़े कर डाले। कुछ ने फर्माया कि भारत के हित में यही है कि पाकिस्तान हमेशा अस्थिर बना रहे। आर.एस.एस. के कतिपय युद्ध-सरदारों के इन बयानों को 'पांचजन्य' के अतिरिक्त अन्य अखबारों ने भी प्रमुखता के साथ छापा कि भारत को पाकिस्तान पर आणविक हमला बोल देना चाहिए।

लेकिन घर-घर तक युद्धोन्मादी 'जिंगोइज्म' की लहर को पहुंचाने में बुर्जुआ मीडिया के जिस हिस्से ने सबसे अहम भूमिका निभाई, वह है इलेक्ट्रानिक मीडिया—यानी टेलीविजन ने। ''वतन पे मरने वालों'' के लिए ''वतन के लोगों से'' ''आंख में पानी भर लेने'' से लेकर खून और धन मांगने वाले विज्ञापनों की तथा भारत माता की तरफ आंख उठाकर देखने वाले की आंखें तक निकाल लेने की धमकी देने वाले विज्ञापनों तथा इस तरह के बहुविध विज्ञापनों और विशेष कार्यक्रमों की बाढ़ सी आ गई। बच्चे-बच्चे के दिमाग में यह बात बैठा दी गई कि हिन्दुस्तान की मेहनतकश जनता की नस-नस से रक्त निचोड़ने वाले साम्राज्यवादी नहीं, बल्कि पाकिस्तान ही हमारा सबसे बड़ा दुश्मन है और पाकिस्तान के पूंजीवादी हुक्मरान नहीं बल्कि पाकिस्तान की पूरी जनता हमारी दुश्मन है। इस सच्चाई को अंधाधुंध प्रचार से पूरी तरह ढंक देने की कोशिश की गई कि दुश्मनी भारत और पाकिस्तान के शासकवर्गों के बीच है जो हमारे पुराने औपनिवेशिक गौरांग महाप्रभुओं की विरासत है, उनकी साजिश का नतीजा है और यह कि भारत-पाकिस्तान के मजदूरों-किसानों की आपस में कोई दुश्मनी नहीं है। बल्कि साम्राज्यवाद दोनों ही देशों के मेहनतकशों का मुश्तरका दुश्मन है। दोनों ही देशों की जनता को अपने-अपने देश के सरमायेदार निजाम के खिलाफ लड़ना है। इसी सच्चाई पर पर्दा डालना अंधराष्ट्रवादी प्रचार का मूल मकसद होता है और वह दूरदर्शनी प्रचारों ने बखूबी पूरा किया।

प्रचार के घटाटोप में यह सच्चाई भी ढंक गई कि भारत और पाकिस्तान—दोनों ही देशों के शासक कश्मीर की जनता को पचास वर्षों से बूटों से रौंद रहे हैं, उसकी आवाज दबा रहे हें तथा उसके आत्मनिर्णय के अधिकार को कुचलकर कश्मीर पर अपना-अपना दावा पेश कर रहे हैं। आज इस बात को पत्रकार बलराज पुरी, सुप्रीम कोर्ट के अधिवक्ता रघुनाथ वैष्णवी और भारत के बहुतेरे लोक अधिकार संगठन स्वीकार करते हैं कि पाकिस्तान और भारत—दोनों के ही कब्जे वाले कश्मीरी इलाकों में फासिस्ट सैनिक शासन की सी स्थिति कायम है और तब भी कश्मीरी जनता की आवाज दबाई नहीं जा सकती है। वे मानते हैं कि कश्मीरी जनता की आवाज सुने बिना यह समस्या हल नहीं की जा सकती। यह एक ऐतिहासिक सच है कि कश्मीरी जनता के साथ भारत सरकार ने वायदाखिलाफी की और यही कारण है कि आम कश्मीरी आबादी के दिलों में उसके प्रति दबी या खुली—लेकिन सिर्फ नफरत ही है। पर शेष भारत में इस सच्चाई पर हमेशा ही घोर जुनूनी अंधराष्ट्रवादी प्रचार का पर्दा पड़ा रहता है।

कारगिल-युद्ध के दौरान इस बात का भी खूब प्रचार किया गया कि अमेरिका, ब्रिटेन आदि पश्चिमी ताकतें कारगिल के मसले पर पूरी तरह भारत के साथ हैं। बुर्जुआ मीडिया का यह प्रचार भी फरेब से भरा है और महज सच्चाई का एक पहलू दर्शाता है। सबसे पहली बात यह दक्षिण एशिया में युद्ध जैसी स्थिति फिलहाल पश्चिमी ताकतें नहीं चाहती थीं, क्योंकि यह स्थिति उनके पूंजी-निवेश पर उल्टा असर डालती। हां, वे सीमा पर

(पेज 4 पर जारी)

बिगुल का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियां

1. 'बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मजदूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मजदूर आंदोलन के इतिहास और सबक से मजदूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूंजीवादी अफवाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मजदूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों का नियमित रूप से छापेगा और स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मजदूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'बिगुल' मजदूर वर्ग के बीच लगातार राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर ''कम्युनिस्टों'' और पूंजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनबाजों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की कतारों से क्रान्तिकारी भरती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'बिगुल' मजदूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

परिकल्पना प्रकाशन की पुस्तकें

दो नई प्रस्तुतियां :

अब इंसाफ होने वाला है (उर्दू की प्रगतिशील कहानियों का प्रतिनिधि चयन) सम्पादन एवं अनुवाद : *शकील सिद्दीकी* मूल्य : 75 रु.

मध्यवर्ग का शोकगीत (हान्स माग्नुस एंत्सेंसबर्गर की कविताएं)
सम्पादन एवं अनुवाद : *सुरेश सलिल* मूल्य : 25 रु.

भारतीय इतिहास का एक दुर्लभ और प्रेरक दस्तावेज :

शहीदेआजम की जेल नोटबुक मूल्य : 50 रुपए

दुर्ग द्वार पर दस्तक -*कात्यायनी* मूल्य : 50 रु.

बेर्टोल्ट ब्रेष्ट : इकहत्तर कविताएं और तीस छोटी कहानियां
मूल जर्मन से अनुवाद : *मोहन थपलियाल* मूल्य: 60 रु.

लहू है कि तब भी गाता है -*पाश* मूल्य: 75 रु.

क्रान्ति का विज्ञान -*लेनी वुल्फ* मूल्य: 10 रु.

विचारों की सान पर (भगतसिंह और उनके साथियों के चुने हुए दस्तावेज, पत्र और वक्तव्य मूल्य : 20 रु.

समर तो शेष है (इप्टा के दौर से अबतक के चुनिन्दा क्रान्तिकारी समूहगीतों का अनन्य संकलन मूल्य : 35 रु.

माओवादी अर्थशास्त्र और समाजवाद का भविष्य मूल्य : 25 रु.

प्राप्त करने के लिए लिखें :
जनचेतना, 3/274, विश्वास खण्ड, गोमतीनगर,
लखनऊ-226 010 ✆ 0522-308896

बिगुल यहां से प्राप्त करें

♦ शहीद पुस्तकालय, जनगण होम्यो सेवा सदन, **मर्यादापुर**, मऊ ♦ मौर्या बुक स्टाल, सआदतपुरा (निकट रोडवेज), मऊनाथभंजन, **मऊ**
♦ जनचेतना, जाफरा बाजार, **गोरखपुर**
♦ विजय इन्फारमेशन सेन्टर, कचहरी बस स्टेशन, **गोरखपुर** ♦ विश्वनाथ मिश्र, चेतना कार्यालय, **बड़हलगंज**, गोरखपुर
♦ ओमप्रकाश, बाबा का पुरवा (पुराना), पेपर मिल रोड, निशातगंज, **लखनऊ**
♦ जनचेतना स्टाल, काफी हाउस के पास, हजरतगंज, **लखनऊ**, (शाम 5 से 7)
♦ राहुल फाउण्डेशन, 3/274, विश्वास खण्ड, गोमतीनगर, **लखनऊ**
♦ विमल कुमार, बुक स्टाल, निकट नीलगिरी काम्प्लेक्स, ए ब्लाक, इंदिरानगर, **लखनऊ**
♦ देवेन्द्र प्रताप, द्वारा श्री इन्द्र सिंह रावत, आल्मा काटेज, 7, मल्लीताल, **नैनीताल**
♦ ललित सती, भारतीय जीवन बीमा निगम, आवास विकास, **रुद्रपुर** (ऊधमसिंहनगर)
♦ प्रोग्रेसिव, बुक सेंटर, लंका **वाराणसी**
♦ राजीव वर्मा द्वारा डा. जे.पी. वर्मा, बी. पी. 82, पटेलनगर, **मुगलसराय**, वाराणसी
♦ राजेन्द्र प्रसाद, रेनु मेडिकल की गली, मुख्य सड़क, **रेणुकूट**, सोनभद्र ♦ सत्यम वर्मा, यूनीवार्ता, 9, रफी मार्ग, **नई दिल्ली**
♦ पुस्तक मण्डप, दिल्ली विश्वविद्यालय कोआपरेटिव स्टोर, दिल्ली विश्वविद्यालय, **दिल्ली**
♦ एस.के.शर्मा, 282 बी, रेलवे कालोनी, **गढ़हरा**, बेगूसराय ♦ सुनील कुमार सिंह, सेक्टर-12 बी, 3159, बोकारो इस्पातनगर, **बोकारो**
♦ गणपतलाल, ग्राम काजी रसूलपुर, पो. तेघड़ा, **बेगूसराय** ♦ विकल्प सांस्कृतिक मोर्चा, 1835, सिल्वर ओक अपार्टमेंट, नेपियर रोड, **जबलपुर**
♦ पीपुल्स बुक हाउस, पटना कालेज के सामने, **पटना** ♦ समकालीन प्रकाशन (प्रा.)लि. पुस्तक बिक्री केन्द्र, आजाद मार्केट, पीरमुहानी, **पटना**
♦ संजय श्रीवास्तव, 221, उत्तरी सुन्दर वास, गंगा फ्लोर मिल, **उदयपुर**
♦ बुक मार्ग, 6, बंकिम चटर्जी स्ट्रीट, **कलकत्ता** ♦ शर्मा बुक स्टाल थाना रोड,चराली, **तिनसुकिया**
♦ नरभिण्डर सिंह, शहीद भगतसिंह विचार मंच, हरियाणा, ग्रा/पो. **सन्तनगर**, जिला-सिरसा
♦ राकेश गोरखा, सरस्वती पुस्तक मंदिर, प्रधान नगर, सिलीगुड़ी, **दार्जलिंग**

नेपाल ♦ पुस्तक पत्र-पत्रिका बिक्री-वितरण केन्द्र दिल्ली बाजार ओकालो, **काठमांडू**
♦ विशाल पुस्तक सदन, बिबुआर बाजार, **प्यूठान**, राप्ती अंचल ♦ विशाल पुस्तक पसल, अस्पताल लाइन, **बुटवल**, लुम्बिनी
♦ विश्व नेपाली पुस्तक सदन, श्रवनपथ, घुटवल, रुपनदेई

पूर्वोत्तर रेलवे का यांत्रिक कारखाना : यदि मजदूर समय रहते नहीं चेते तो वर्कशापों में चमगादड़ लटकेंगे और कबूतर घोंसले बनायेंगे

सरकार और देशी-विदेशी थैलीशाहों की साजिश से अघोषित निजीकरण-उदारीकरण की प्रक्रिया जारी

पांचवें वेतन आयोग ने विनाश की पटरी बनायी और गद्दार ट्रेड यूनियन नेताओं ने हरी झंडी दिखायी

गोरखपुर (बिगुल टीम द्वारा)। देशी-विदेशी थैलीशाहों और उनकी सेविका भारत सरकार की साज़िश से पूर्वोत्तर रेलवे के अधिकांश उत्पादन एवं रखरखाव कारखानों में अघोषित निजीकरण और उदारीकरण की प्रक्रिया जोर-शोर के साथ जारी है। यदि मजदूर समय रहते नहीं चेते तो वह दिन अब बहुत दूर नहीं जब अधिकांश वर्कशापों में चमगादड़ लटकेंगे और कबूतर घोंसले बनायेंगे। धीरे-धीरे बर्बादी के कगार पर घिसटते इन कारखानों की एक तस्वीर पूर्वोत्तर रेलवे के यांत्रिक कारखाने के आइने में साफ तौर देखी जा सकती है।

पूर्वोत्तर रेलवे के इस कारखाने की स्थापना सन् 1903 में लोको कैरेज एवं विद्युत यांत्रिक कारखाना के रूप में हुई थी। इस कारखाने के मेहनती और सृजनशील मजदूरों ने एक समय में उत्पादन और किफायती रखरखाव के कीर्तिमान स्थापित किये थे। लेकिन पिछले लगभग डेढ़ दशक से विनाश की जो प्रक्रिया जारी है उसके कारण हालत यह है कि आज यह कारखाना अपनी कुल क्षमता का आधा भी नहीं इस्तेमाल कर पा रहा है।

कारखाने के विभिन्न शॉपों में काम करने वाले मजदूरों से बातचीत के बाद कारखाने की बर्बादी की जो कहानी मालूम हुई वह अघोषित निजीकरण-उदारीकरण की प्रक्रिया को ही उजागर करती है।

खामोश होतीं मशीनें और शॉपों में पसरता सन्नाटा

इस कारखाने के भीतर जनरल इलेक्ट्रिक रिपेयर शॉप, इलेक्ट्रिक मैन्युफैक्चरिंग शॉप, ट्रेन लाइटिंग, पावर हाउस, पावर मेन्टेनेंस, पेण्ट, कैरेज कोरेजन शॉप, कैरेज ब्राड गेज, ब्रास फिनिशिंग, मशीन, इलेक्ट्रिक, ब्वायलर, सी.एस.सी. कम्पोनेण्ट, वेल्डिंग ब्राड गेज, वेल्डिंग मीटर गेज, व्हील ब्राड गेज, व्हील मीटर गेज, टूल रूम, हीट ट्रीटमेण्ट, स्मिथरी, फाउण्ड्री, मिलराइट, मोटर सेक्शन, प्लानिंग शॉप, इंस्पेक्शन शॉप सहित कुल 27 शॉप हैं। 1990 के पहले एक समय इन शॉपों में कुल मिलाकर लगभग 3000 किस्म के कल-पुर्जे बनते थे। धीरे-धीरे कारखानों के भीतर बनने वाले कल-पुर्जों को निजी ठेकेदारों के मार्फत बाहर से बनवाने और खरीदने का जो सिलसिला शुरू हुआ उसका नतीजा यह हुआ कि 1990 में कारखाने में बनने वाले कल-पुर्जों की संख्या घटकर 1070 हो गयी। आज स्थिति यह है कि यहां सिर्फ 235 कल-पुर्जे ही बनते हैं। जाहिर है कि 1990 के बाद कल-पुर्जों को बाहर से बनवाने या खरीदने की आपाधापी मच गयी। कहने की जरूरत नहीं कि इस खरीद-फरोख्त में ठेकेदारों से मिलीभगत करके अधिकारी भारी कमीशन खा रहे हैं—बैंक बैलेंस बढ़ा रहे हैं, प्लॉट पर प्लॉट खरीद रहे हैं, शेयर खरीद रहे हैं और विलासितापूर्ण जीवन के नये-नये रिकार्ड बना रहे हैं।

लेकिन, स्थानीय रेल प्रशासन रेल मंत्रालय को हर महीने यह झूठी रिपोर्ट भेजता रहता है कि कारखाने की क्षमता में कमी का कारण काम का अभाव है। ऐसा नहीं है कि रेल मंत्रालय के अधिकारी सच्चाई से अनजान हैं। असलियत यह है कि उन्हें ऐसी ही रिपोर्ट चाहिए, जिससे धीरे-धीरे कारखाने को बीमार दिखाकर निजीकरण का रास्ता साफ किया जा सके। यह वही जाना-पहचाना हथकण्डा है, जिसके माध्यम से तमाम सरकारी कारखानों की मौत का परवाना काटा जा चुका है।

कारखाने की उत्पादन क्षमता में कमी का एक अन्य कारण यह है कि इसकी रीमोल्डिंग का कभी कोई प्रयास नहीं किया गया। कारखानों व आधुनिक तकनीकी विकास की थोड़ी समझ रखने वाला व्यक्ति इस कारखाने को सरसरी तौर पर देखकर ही कह सकता है कि यह तकनीकी दृष्टि से 50 के दशक से आगे नहीं गया है। लगभग चालीस साल से कारखाने में काम कर रहे रिटायरमेण्ट के करीब खड़े एक मजदूर ने पीड़ा के साथ बताया कि इन पुरानी पड़ गयी मशीनों और सांचों पर हम कैसे काम करते हैं, यह भगवान ही जानता है। अब हालत यह है कि कई शाप लगभग बन्दी के कगार पर हैं और लाखों रुपयों की दर्जनों मशीनें पूर्णतः बन्द पड़ी हैं। एक्सिल टर्न बनाने वाली सेण्ट्रल न्यूमेटिक कन्ट्रोल मशीन लोड के अभाव में बन्द पड़ी है। रेल कोचों के लिए ब्रेक बनाने वाली फाउण्ड्री बन्द होने की हालत में है क्योंकि इसे अब प्राइवेट कम्पनियों से खरीदने का निर्णय लिया जाने वाला है।

कारखाने का धीरे-धीरे अघोषित रूप से पूर्ण निजीकरण करने में कारखाने के अधिकारी और भी कई तरह के गोलमाल कर रहे हैं। कारखाने में कच्चे माल एवं उत्पादित माल की जांच के लिए धातु एवं रसायन प्रयोगशाला भी है। नियमतः इस प्रयोगशाला के परीक्षणों से गुजरे बिना कोई भी कच्चा माल शॉप में नहीं जाता और न ही उत्पादित माल बाहर जाता है। लेकिन, मजदूरों ने बताया कि भारी कमीशन खाकर महंगे दामों पर खरीदा गया रद्दी माल पास कर दिया जाता है। साथ ही, मालों की घटिया क्वालिटी के कारण आये दिन दुर्घटनाएं घटती रहती हैं।

बद से बदतर होतीं कार्यदशाएं

कारखाने के अन्दर मजदूर किन बदतर स्थितियों में काम करते हैं इसकी झलक मुख्य द्वार से शॉपों की ओर बढ़ने के कुछ ही कदम बाद मिल जाती है। सड़क पर पड़ी धूल की मोटी परत और उसके दोनों ओर पड़े कूड़े के ढेर सबसे पहले आपका स्वागत करते हैं। शॉपों के अन्दर भी धूल पड़ी रहती है, जिसकी हालत बरसात के दिनों में और चौपट हो जाती है। शेड के ऊपर से गिरने वाले पानी की निकासी की कोई समुचित व्यवस्था न होने के कारण पानी शॉपों के आस-पास जमा हो जाता है। मजदूर पूरे बरसात भर कीचड़-पानी से गुजरते हुए शॉपों में आते-जाते हैं।

पीने के पानी तक की समुचित व्यवस्था कारखाने में नहीं है। मजदूरों ने बताया कि काम करने के बाद हाथ साफ करने के लिए साबुन व कपड़ा या तो मिलता ही नहीं है या इतना कम मिलता है कि वह पर्याप्त नहीं होता। मोबिल सने हाथों को वे जिस नल से धुलते हैं, उसी नल से पानी भी पीते हैं, क्योंकि इसकी अलग से कोई व्यवस्था नहीं है। वैसे, गरज मिटावन के लिए यहां एक कैण्टीन नाम की चीज भी है लेकिन लगभग छह हजार कर्मचारियों के लिए यह पूरी तरह अपर्याप्त है। इसके साथ ही वहां मिलने वाली चाय व अन्य खाद्य-सामग्री की क्वालिटी इतनी घटिया है कि मजदूर कारखाने के आसपास चलने वाली चाय-पान की दुकानों पर जाना ज्यादा मुनासिब समझते हैं।

लगातार घटती मजदूरों की तादाद

उदारीकरण-निजीकरण कुचक्र का एक खास हथकण्डा है—मजदूरों-कर्मचारियों की छंटनी। रेलवे के सभी विभागों-कारखानों में भी अघोषित तौर पर साजिशाना ढंग से इसपर अमल जारी है। विश्व बैंक-मुद्राकोष की नुस्खा-निर्देशित नीतियों पर अमल करते हुए रेलवे बोर्ड रेल के कुल अठारह लाख कर्मचारियों की संख्या घटाकर आधी करने पर राजी हो चुका है। पांचवें वेतन आयोग ने भी इस पर मुहर लगा दी है। रेलवे में यह अघोषित छंटनी किस ढंग से चल रही है, इसका एक स्पष्ट उदाहरण यांत्रिक कारखाना है।

एक समय इस कारखाने में लगभग दस हजार मजदूर-कर्मचारी काम करते थे जिनकी संख्या घटकर आज लगभग आधी (5981) रह गयी है। इसका एक प्रमुख कारण रिटायरमेण्ट के बाद खाली जगहों पर नयी भर्तियों का न होना है। पहले इस कारखाने में मालगाड़ी के वैगनों व भाप इंजन की मरम्मत का काम भी होता था। 1980 में मालगाड़ी के वैगनों की मरम्मत का कार्य बन्द हो गया। 3 दिसम्बर '94 को रेल द्वारा भाप इंजनों का प्रयोग बन्द कर देने के कारण इन इंजनों की मरम्मत का कार्य भी बन्द हो गया। काम की इस बन्दी के कारण लगभग 1000 मजदूरों को अचानक बैठ जाना पड़ा। इनके रिटायरमेण्ट के बाद धीरे-धीरे ये पद स्वतः समाप्त हो गये।

नयी भर्तियों पर इसी तरह अघोषित रोक के कारण मजदूरों-कर्मचारियों की तादाद घटते-घटते आज के स्तर तक पहुंची है। आगे भी यह चीज जारी रहने वाली है। कारखाने में इस समय 83 बड़ी लाइन और 30 छोटी लाइन के डिब्बों की मरम्मत होती है। रेल प्रशासन इस समय जिस रफ्तार से आमान परिवर्तन का काम करा रहा है उससे यह अनुमान है कि आगामी दो-तीन वर्षों के भीतर छोटी लाइन समाप्त हो जायेगी। उसी के साथ यहां छोटी लाइन के डिब्बों की मरम्मत का काम भी समाप्त हो जायेगा और यह स्पष्ट है कि लगभग एक हजार से पन्द्रह सौ मजदूर भी स्वतः रिटायर हो जायेंगे। यह भी जाहिर है कि इन रिक्तियों को भरा नहीं जायेगा।

धंधेबाज ट्रेड यूनियन नेता चुप्पी की साजिश रचते रहे

उदारीकरण-निजीकरण की विनाशकारी नीतियों के तहत पूर्वोत्तर रेलवे का यांत्रिक कारखाना धीरे-धीरे तबाही की ओर धकेले जाने की इस साजिशाना गुपचुप कारगुजारी के खिलाफ कारखाने में सक्रिय कई ट्रेड यूनियनों ने कभी कोई असरदार आवाज नहीं उठायी। या तो उन्होंने आंख पर पट्टी बांधकर खुलकर रेल प्रशासन की मदद की या कुछेक कर्मकाण्डी विरोध करके चुप लगा गये। जबकि कहने को यहां ऑल इण्डिया रेलवे मेन्स फेडरेशन (ए.आई.आर.एफ) से सम्बद्ध नार्थ ईस्टर्न रेलवे मेन्स यूनियन, इण्टक से सम्बद्ध पूर्वोत्तर रेलवे कर्मचारी संघ, श्रमिक संघ और एटक की शाखाएं हैं लेकिन ये सभी यूनियनें बोनस, भत्ते, एरियर बढ़वाने के नाम पर कवायद करने और ट्रांसफर-पोस्टिंग में दलाली करने के अलावा मजदूर वर्ग के अस्तित्व की और उनके व्यापक हितों की कोई लड़ाई नहीं लड़तीं।

एकमात्र ए.आई.आर.एफ. को सरकार से वार्ता करने का अधिकार प्राप्त है। लेकिन यह फेडरेशन अपने संघर्षमय अतीत से पूरी तरह पीछा छुड़ाकर अब सरकार की मजदूर विरोधी नीतियों पर ठप्पा लगाने और रेल मजदूरों की पीठ में छुरा भोंकने वाली प्रमुख फेडरेशन बन चुकी है। पांचवे वेतन आयोग की घोर मजदूर विरोधी सिफारिशों पर मुहर लगाकर इसने समूचे रेल मजदूरों-कर्मचारियों के साथ ऐतिहासिक विश्वासघात किया है। वेतन निर्धारण के मसले पर तो इसने समूचे रेलवे के टेक्निकल-आर्टिजन मजदूरों की पीठ में खुलेआम छुरा भोंका ही है, लेकिन इसकी सबसे साजिशाना भूमिका यह रही है कि वेतन आयोग द्वारा रेलवे के निजीकरण-उदारीकरण और कर्मचारियों-मजदूरों की छंटनी करने की योजना पर समझौते के जरिये मुहर लगा दी है।

उम्मीद की एक हल्की सी किरण :

ए.आई.आर.एफ. के नेताओं की इस गद्दारी के विरोध में लगभग डेढ़ साल पहले यांत्रिक कारखाना सहित गोरखपुर के चारों कारखानों के टेक्निकल-आर्टिजन मजदूरों ने बगावत का झण्डा बुलन्द कर स्वयं को इण्डियन रेलवे टेक्निकल एण्ड आर्टिजन इम्प्लाइज एसोसियेशन के तहत नये सिरे से संगठित करने की शुरुआत की है। इससे कारखानों के टेक्निकल-आर्टिजन मजदूरों के अन्दर उम्मीद की एक हल्की सी किरण जगी है। लेकिन यह प्रक्रिया अभी एकदम शैशवावस्था में है। इस नवगठित यूनियन ने अपनी कार्यसूची में ट्रेड यूनियन जनवाद को बहाल करने और निजीकरण-उदारीकरण की नीतियों के अमल के खिलाफ संघर्ष करने और रेल के अन्य मजदूरों-कर्मचारियों के साथ व्यापक एकता करने को जगह दी है। परन्तु यह अभी भी सिर्फ सोच के धरातल पर दिखायी देती है, जिसे अमली जामा पहनाने में अभी लम्बी दूरी तय करनी है।

यदि टेक्निकल-आर्टिजन मजदूरों की यह नयी पहलकदमी तमाम अवरोधों, खतरों, चुनौतियों से जूझते हुए आगे बढ़ती है और समूचा नेतृत्व एकजुट होकर अपनी निर्धारित कार्यसूची पर अमल करते हुए व्यापक मजदूर आबादी का विश्वास अर्जित करने और धंधेबाज यूनियन नेताओं द्वारा कुन्द कर दी गयी आम मजदूरों की संघर्ष चेतना को जागृत करने में सफल होता है तो रेल मजदूर आन्दोलन के मौजूदा ठहराव को तोड़कर मौजूदा कठिन दौर की नयी लड़ाइयों को लड़ने की दिशा में निश्चित रूप से आगे बढ़ा जा सकता है। ●

साम्राज्यवादी डाकुओं की बढ़ती लूट,
देशी सरमायेदारों की फूलती थैलियां,
मेहनतकशों की बढ़ती तबाही,
बेरोजगारी, आसमान छूती मंहगाई,
छंटनी—तालाबंदी, तबाही—बर्बादी,
काले कानून, लाठी—गोली का लोकतंत्र,
बिकता न्याय,
अराजकता, लूटपाट, गुण्डागर्दी,
दलाली, कमीशनखोरी, भ्रष्टाचार,
मण्डल—कमण्डल, दंगे—फसाद,
भ्रष्ट सरकार, झूठी संसद, नपुंसक विरोध

इनसे निजात पाने की राह क्या है?

इलेक्शन या इंकलाब ?

—बिगुल मजदूर दस्ता

बीमा क्षेत्र का निजीकरण : कानून बनता रहेगा, काम जारी है!

कुछ सवाल जिनपर सोचना जरूरी है!

• ललित सती

बीमा कारोबार में विदेशी कम्पनियों को भागीदारी दिलाने सम्बन्धी विधेयक को मंजूरी दिलाने के लिए सरकारी तंत्र अगली लोकसभा के गठन और संसद के अधिवेशन का इंतजार कर रहा है, लेकिन वास्तविकता यह है कि इस इंतजार के चक्कर में निजीकरण की प्रक्रिया रुकी नहीं है। वह बदस्तूर जारी है।

बुर्जआ अखबार **'जनसत्ता'** (26 जुलाई '99) में प्रकाशित एक खबर के अनुसार, बीमा सचिव बी.के. चतुर्वेदी ने यह स्वीकार किया है कि बीमा नियमन प्राधिकरण ने इस बाबत कानून बनने से पहले ही धंधे के नियम और शर्तो पर काम शुरू कर दिया है। हाल ही में हुई उद्योगपतियों की एक बैठक में श्रीमान चतुर्वेदी जी ने बताया कि ''बीमा कारोबार में निजी कम्पनियों की भागीदारी तय है'' और यह कि ''सरकार किसी की भी बने, बीमा कारोबार का निजीकरण होना ही है।''

ऐसा कहकर बीमा सचिव सबसे पहले तो इस मार्क्सवादी मान्यता को ही एक बार फिर सही सिद्ध कर रहे हैं कि पूंजीवादी व्यवस्था में संसद महज ठप्पा मारने वाली संस्था होती है, बहसबाजी का अड्डा होती है और दिखाने के दांत होती है और सरकार पूंजीपतियों के हितों का प्रबंधन करने वाली प्रबंधकारिणी समिति मात्र होती है। इस जगजाहिर सच्चाई को बीमा सचिव ही नहीं, हम सभी जानते हैं कि विश्व व्यापार संगठन में शामिल होते समय ही साम्राज्यवादियों के प्रति भारत सरकार वचनबद्ध हो चुकी है, अत: बीमा कारोबार में देशी-विदेशी निजी पूंजी की घुसपैठ तो तय ही है। चाहे जिस किसी भी बुर्जुआ पार्टी की या चुनावी वामपंथियों की भागीदारी वाले किसी भी गठबंधन की सरकार बने, बीमा कारोबार का निजीकरण तय है क्योंकि ये सभी दल भूमण्डलीकरण के वर्तमान आर्थिक नव औपनिवेशिक फ्रेमवर्क को समग्रता में स्वीकार कर चुके हैं।

उद्योगपतियों की उपरोक्त बैठक में बीमा सचिव ने बताया कि चाहे किसी भी पार्टी या गठबंधन की सरकार बने, बीमा कारोबार का निजीकरण तय है—उनके इस विश्वास का आधार संसद की संयुक्त समिति की वह रपट है जिसमें विदेशी कम्पनियों की कुल हिस्सेदारी 26 फीसदी तक सीमित करने की सिफारिश की गई है।

पिछले दिनों बीमा व्यवसाय के निजीकरण के प्रश्न पर 'बिगुल' के पृष्ठों पर मैंने जो टिप्पणियां लिखीं और तमाम बीमाकर्मियों के नाम जो पर्चा जारी किया, उसके बाद ट्रेड यूनियन नेताशाही के एक हिस्से ने तथा आंख मूंदकर उसके पीछे चलने वाले कुछ साथियों ने मुझे ''आड़े हाथों'' लिया और यह आरोप तक लगा डाला कि मैं यूनियन-विरोधी काम कर रहा हूं। उपरोक्त तथ्यों की चर्चा करते हुए मैं एक बार फिर अपनी 'पोजीशन' साफ करने की कोशिश करूंगा।

हमारी यह पक्की मान्यता है कि न सिर्फ बीमा कर्मचारियों की यूनियन, बकि पूरा ट्रेड यूनियन आन्दोलन आज अर्थवाद और ट्रेडयूनियनवाद के दीमकों से खोखला होकर, हमारे वर्ग-हितों की हिफाजत का प्रभावी उपकरण नहीं रह गया है। यह ट्रेड यूनियन नौकरशाही की गिरफ्त में फंसकर अपना जनवादी चरित्र खो चुका है तथा खण्ड-खण्ड में बंटकर तथा मजदूरों-कर्मचारियों के संकीर्ण पेशागत मनोवृत्ति का शिकार हो जाने के चलंते कमजोर हो चुका है।

ये कमजोरियां लम्बे समय में आई हैं और उदारीकरण-निजीकरण के दौर में अब इनका फायदा उठाकर शासक वर्ग मजदूरों-कर्मचारियों पर अलग-अलग फैसलाकुन चोटें कर रहा है और टुकड़े-टुकड़े में बंटा, निष्क्रिय, अराजनीतिक, अर्थवादी नेतृत्व वाला ट्रेड यूनियन आन्दोलन इसका मुकाबला नहीं कर पा रहा है।

बीमा कारोबार का निजीकरण एक ऐसी ही फैसलाकुन चोट है। हम आगे नये सिरे से अपने हितों की हिफाजत के लिए लड़ सकें, इसके लिए आत्म विश्लेषण जरूरी है।

हमें अपनी ट्रेड यूनियन को क्रान्तिकारी धार देने के लिए ट्रेड यूनियन नौकरशाही को समाप्त कर यूनियन के आम सदस्यों की पहलकदमी जागृत करने के लिए यूनियन के ढांचे व कार्यप्रणाली का सही अर्थ में जनवादीकरण करना होगा।

केवल वेतन-बोनस की लड़ाई से आगे राजनीतिक अधिकारों के लिए लड़ने की चेतना पैदा करनी होगी। यदि इस चेतना से बीमा कर्मी लैसे होते तो वे तब नहीं जागते जबकि बीमा कारोबार का निजीकरण तय हो गया है। यदि हम राजनीतिक अधिकारों के लिए लड़ने की चेतना से लैसे होते तो 1991 में जब नई आर्थिक नीतियों की शुरुआत हुई, तभी उन तमाम उपक्रमों के मजदूरों-कर्मचारियों के साथ मिलकर इन नीतियों के विरुद्ध लड़ते और राजनीतिक हड़तालें करते, जिनको पारी-पारी से इन नीतियों ने अपना शिकार बनाया। अर्थवादी भटकाव के कारण हम नहीं देख पाये कि इन्हीं नीतियों का कुठाराघात एक दिन बीमाकर्मियों पर भी होगा। इसके लिए हम अवश्य ही नेतृत्व को दोषी मानते हैं जो उदारीकरण-निजीकरण के शिकार तमाम सर्वहारा और मध्यवर्गीय आबादी को इन नीतियों के विरुद्ध लम्बे, फैसलाकुन राजनीतिक संघर्ष की राह पर आगे नहीं बढ़ा सका (क्योंकि उसे ऐसा करना ही नहीं था) और अलग-अलग उपक्रमों, सेक्टरों, विभागों के मजदूर-कर्मचारी, अलग-अलग, केवल तभी लड़ते रहे जब उनके आर्थिक हितों पर और फिर सीधे रोजगार पर फैसलाकुन चोटें पड़ती रहीं। यदि नई आर्थिक नीतियों के विरुद्ध इसकी शिकार होने वाली पूरी मेहनतकश आबादी को राजनीतिक संघर्ष के लिए गोलबंद और संगठित किया जाता तो आज यह नौबत नहीं आई होती।

पिछले आठ वर्षों के दौरान ट्रेड यूनियनों और चुनावी वामपंथी दलों के नेतृत्व ने अलग-अलग उपक्रमों में आन्दोलनों के अतिरिक्त पूरे देश के पैमाने पर उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों के विरोध का कोई प्रोग्राम लिया भी तो वह महज रस्मी था—कुछ प्रदर्शन, कुछ एक संसद-घेराव और एकाध भारत-बन्द। इतना तो वामपंथी मुखौटों की हिफाजत के लिए भी जरूरी था।

अधिकांश ट्रेड यूनियनों सहित बीमा कर्मियों-बैंककर्मियों की यूनियनों के नेतृत्व में भी वे लोग ही हावी हैं जो उन चुनावी वामपंथी पार्टियों से जुड़े हुए हैं जो संसद में बैठे, विरोध की रस्म अदायगी के बाद, बुनियादी नीतियों के प्रश्न पर बुर्जुआ पार्टियों के साथ ही खड़े होते रहे हैं। मैं यूनियन का विरोध नहीं करता रहा हूं, बल्कि उसका वफादार सिपाही होने के नाते इस नेतृत्व का और इसकी नीतियों का विरोध करता रहा हूं। यह मेरा जनवादी अधिकार तो है ही, इसे मैं अपना आवश्यक कर्तव्य भी समझता हूं।

सोचने की बात है, बीमा कारोबार के निजीकरण के बारे में बीमा सचिव की उपरोल्लिखित निश्चिन्तता का कारण यही तो है कि संसद की संयुक्त समिति (जिसमें वामपंथी दलों के भी प्रतिनिधि शामिल थे) ने इसे एकमत से स्वीकार किया था। हां उसने सिर्फ इतना किया था कि विदेशी कम्पनियों की भागीदारी 40 फीसदी से घटाकर 26 फीसदी तक रखने की सिफारिश की थी।

ये ''वामपंथी'' पार्टियां केन्द्र में देवगौड़ा और गुजराल की जिन सरकारों को समर्थन देती रही हैं वे भी निजीकरण और उदारीकरण की ही नीतियों को लागू कर रही थीं। ये बातबहादुर ''वामपंथी'' राज्यों में सरकार चलाते हुए खुद ही इन्हीं नीतियों को लागू करते रहे हैं।

हम याद दिला दें कि 13 दिसम्बर 1997 को विश्व व्यापार संगठन के आदेश पर जेनेवा में 132 देशों के प्रतिनिधियों ने एक अन्तरराष्ट्रीय समझौते पर हस्ताक्षर किये। हस्ताक्षर करने वाले देशों की सरकारों को अपनी-अपनी संसदों से सहमति हासिल करने के बाद मार्च, 1999 तक इस समझौते की शर्तों को लागू कर देना था। यह समझौता कुल मिलाकर बैंकिंग, बीमा और शेयर बाजार को विदेशी पूंजी के लिए खोलने का मार्ग प्रशस्त करता था। इस समझौते पर जिस संयुक्त मोर्चा सरकार के प्रतिनिधि ने हस्ताक्षर किये थे, उसे संसद में माकपा का समर्थन प्राप्त था और भाकपा तो उसमें शामिल ही थी।

क्या ये तथ्य बताते नहीं हैं कि भाकपा और माकपा जैसी संशोधनवादी पार्टियां वस्तुत: नई आर्थिक नीतियों को स्वीकार कर चुकी हैं? ऐसे में जो ट्रेड यूनियन नेतृत्व अपनी गांठ इन पार्टियों से जोड़े रहेंगे, वे निजीकरण-उदारीकरण की नीतियों का प्रभावी विरोध भला कैसे कर सकेंगे?

इन प्रश्नों पर पूर्वाग्रहों, पिछलग्गूपन ओर कठमुल्लेपन से मुक्त होकर सोचने की जरूरत है। यह बीमाकर्मियों की यूनियन का ही नहीं, पूरे भारत के ट्रेड यूनियन आन्दोलन के क्रान्तिकारी पुनरुत्थान का बुनियादी प्रश्न है और आज पूंजीवादी व्यवस्था के हालात ने ही इस प्रश्न को काफी साफ कर दिया है।

हमें रस्मी लड़ाई और रस्मी लड़ाई लड़ने वालों की असलियत पहचाननी होगी ताकि हम आगे की और कठिन लड़ाइयों के लिए, नये सिरे से खड़े हो सकें। एक लड़ाई हम हार चुके हैं। अफसोस हारने का नहीं होता, बल्कि इस बात का होता है कि बिना लड़े हार गये। लड़ने वाले हारते भी हैं, पर अंततोगत्वा जीतते भी वही हैं जिनमें लंबी और फैसलाकुन लड़ाई का माद्दा होता है। ●

युद्धोन्मादी जुनून भड़काने में बुर्जुआ मीडिया की भूमिका

(पेज 2 से आगे)

तनाव चाहती थीं ताकि युद्ध की तैयारियां चलती रहें और उनके हथियार बिकते रहें। पर स्थितियों का तर्क साम्राज्यवादियों की इच्छा से स्वतंत्र होकर आगे बढ़ गया और तनाव का विस्फोट युद्ध के रूप में हो गया। इस स्थिति का एक कारण यह था कि नजम सेठी प्रकरण, आसिफ जरदारी प्रकरण, भ्रष्टाचार के मामलों और व्यापक जन-असंतोष से चौतरफा घिरे नवाज शरीफ के लिए सीमा पर युद्ध छेड़ना जरूरी था। इधर ''हिन्दू कार्ड'' फेल होने के बाद भाजपाइयों को भी चुनावी मुद्दा चाहिए था और 'कारगिल' से बढ़िया चुनावी मुद्दा भला और क्या हो सकता था! हालांकि स्थितियों का विकास फिर दोनों देशों की सरकारों की चाहतों से स्वतंत्र हो गया है। अन्तरराष्ट्रीय दबाव में पीछे हटने के बाद नवाज शरीफ को उनके विरोधियों ने घेर लिया है। इधर कारगिल पर कांग्रेस भाजपा सरकार को यह कहकर घेर रही है कि घुसपैठ सरकार की लापरवाही से हुई।

जब युद्ध हो ही गया तो साम्राज्यवादियों ने उसका लाभ उठाकर खूब हथियार बेचे और आगे भी बेचेंगे। साथ ही कश्मीर पर ''ना-ना'' करते हुए भी मध्यस्थ बनकर बन्दर मामा की तरह लाभ उठाने की उन्होंने पूरी कोशिश की। पूंजी निवेश के अनुकूल हालात बनाने के लिए ही अमेरिका व अन्य साम्राज्यवादियों ने पाकिस्तान पर घुसपैठियों को वापस बुलाने के लिए दबाव डाला। दूसरी बात, वैसे भी साम्राज्यवादी इससमय पाकिस्तान की बांह मरोड़ रहे हैं। वे चाहते हैं कि बर्बाद होते अर्थतंत्र को ठीक करने के लिए नवाज शरीफ कठोर कदम उठायें, पर नवाज शरीफ व्यापक जन असंतोष से घबरा रहे हैं। आई.एम.एफ. और विश्व बैंक ने पाकिस्तान के देय कर्ज की किश्तों का भुगतान भी फिलहाल रोक दिया है। इस दबाव का मुख्य कारण यह है कि साम्राज्यवादी देश पाकिस्तान को अबतक दिये गये समर्थन की पूरी कीमत वसूलकर अब उसे आर्थिक नव औपनिवेशिक गुलामी की जकड़बन्दी में एकदम लातिन अमेरिकी देशां की तरह ही जकड़ लेना चाहते हैं।

एक और बात यह भी है कि तालिबान और ओसामा बिन लादेन जब पश्चिमी ताकतों के लिए ही भस्मासुर साबित होने लगे तो वे नवाज शरीफ से यह अपेक्षा करने लगे कि वे उन्हें नियंत्रित करें, पर नवाज शरीफ की भी कुछ अपनी आंतरिक मजबूरियां हैं। जिस लहर को उन्होंने हवा दी है, वहां से तुरत यदि हाथ खींचेंगे तो वही कट्टरपंथ उनके तख्ते-ताऊस को भी लील जायेगा। नतीजतन, पश्चिमी ताकतें नवाज शरीफ से फिलहाल कुछ नाराज भी हैं।

पश्चिमी देशों के समर्थन को मीडिया ने बढ़चढ़कर भाजपा-गठबंधन सरकार की कूटनीतिक विजय के रूप में प्रचारित किया। वास्तविकता यह है कि यह समर्थन तो देश को बेचने का अदना-सा कमीशन मात्र था। अपने तेरह महीने के शासन काल में वाजपेयी सरकार ने निजीकरण-उदारीकरण की नीतियों को आगे बढ़ाने में, पांच साल चलने वाली नरसिंह राव सरकार से भी अधिक महत्वपूर्ण कदम उठाये। नये पेटेण्ट कानून को पास करना, नई आयात-निर्यात नीति घोषित करना, श्रम कानूनों में बदलाव के लिए नये श्रम आयोग का गठन, बीमा नियमन प्राधिकरण बिल को पास करने की पूरी तैयारी, विनिवेश के नाम पर सार्वजनिक उद्यमों को बेचने की प्रक्रिया को तेज करना—एक के बाद एक कई महत्वपूर्ण कदम उठाकर ''स्वदेशी'' का नारा लगाती भाजपा सरकार साम्राज्यवादियों और देशी इजारेदार पूंजीपतियों के सामने साष्टांग लेट गई। इतना पूंछ हिलाने, कूं-कूं करने और इतनी वफादारी जाहिर करने का कुछ न कुछ ईनाम मिलना एकदम वाजिब था।

एक महत्वपूर्ण कड़वा सच यह भी है कि आज मीडिया गला फाड़कर जिस 'आपरेशन विजय' का डंका बजा रहा है, उसका मूल कारण पाकिस्तान पर अमेरिका व उसके सहयोगियों का दबाव था, अन्यथा युद्ध महीनों और खिंच सकता था और जीत यदि हासिल भी होती तो कई गुनी अधिक कीमत चुकाकर।

युद्ध ने तमाम देशी-विदेशी कम्पनियों को देशभक्ति का लेबल लगाकर अपना प्रचार करने का खूब मौका दिया। तरह-तरह के प्रदर्शन-मैच और नाच-गाने के कार्यक्रम करके पैसे बटोरे गये और टी.वी. पर उन्हें खूब दिखाया गया। खून इकट्ठा किया गया जो वैसे भी घायल सैनिकों तक (व्यावहारिक चिकित्सकीय तकनीकी कारणों से) नहीं पहुंचना था। संदिग्ध ढंग से चन्द-एक वर्षों में खरबपति बनी ''पैराबैंकिंग'', मीडिया, हवाई यातायात आदि धंधों में लगी कई कम्पनियों के मालिक सबसे बड़े देशभक्त हो गये। सिनेमा के भांड़-भंडुक्के कमर मटकाकर, मैच खेलकर, अस्पतालों की यात्रा करके इस ''देशभक्ति सर्कस'' में शामिल होकर देशभक्त हो गये। भला आम मजदूर-किसान की क्या बिसात कि वह देशभक्त बने! हां, बेरोजगारी के मारे कुछ नौजवान जरूर दो जून की रोटी जुटाने के लिए सेना में भरती होकर ''देशभक्ति करने'' पहुंचे थे सेना के भरती-केन्द्रों पर। जयपुर, भरतपुर, दरभंगा और छपरा में अपनी ही सेना ने उन्हें गोली खाने का रिहर्सल करा दिया। सौ से अधिक मारे गये और पांच सौ से भी अधिक घायल हुए। अपने ही देश के बेरोजगार, बेबस नौजवानों के इतने बड़े नरसंहार की मीडिया ने बड़े ही हल्के-फुल्के ढंग से चर्चा की और देशभक्ति के शोरगुल में इस ''दुर्भाग्यपूर्ण घटना'' को दबा दिया गया। उन मारे गये बेरोजगार नौजवानों के बेहाल परिवारों के लिए सहानुभूति की कहीं भी कोई लहर नहीं है।

इराक पर अमेरिकी बमबारी के सीधे प्रसारण से सी.एन.एन. ने जो सिलसिला शुरू किया था, कारगिल युद्ध के रिपोर्टिंग के जरिये केबुल चैनलों ने और दूरदर्शन ने उसे और आगे बढ़ाया। भयंकर रक्तपातपूर्ण वास्तविक युद्ध को बड़े ''मनोरंजक'' ''सनसनीखेज'' अंदाज में एक युद्ध फिल्म या सीरियल की तरह मध्य वर्ग के ड्राइंग रूम में टेलीविजन के पर्दे पर, तमाम उपभोक्ता सामग्रियों के विज्ञापनों के बीच खूब परोसा गया। शासक वर्ग के राजनीतिक पक्ष का प्रचार और मुनाफाखोरी का कारोबार—दोनों ही साथ-साथ हुए और बड़ी ही कुशलतापूर्वक हुए। टी.वी. के पर्दे पर युद्ध की रिपोर्टिंग, बरसते तोप के गोले और फुलझड़ियों के मानिन्द छूटती मिसाइलों से युद्ध की विभीषिका, बिखरे हुए रक्त मांस के लोथड़ों, सड़ती लाशों, उजड़ती आबादी आदि की भयंकरता का थोड़ा भी पता नहीं चलता और आम मध्यवर्गीय नागरिक घर बैठे रोमांचित होता है कि वाह! दुश्मन पर क्या खूब फतह हासिल की जा रही है। पर्दे पर दिखने वाले युद्ध की रूमानियत हमें युद्ध की नंगी सच्चाइयों से दूर ले जाती है ओर हमें इस लायक भी नहीं छोड़ती कि ठण्डे दिमाग से हम युद्ध के कारणों पर सोच सकें।

गौरतलब बात है कि टी.वी. के देशव्यापी फैलाव के बाद लड़ा गया यह पहला युद्ध है। टी.वी ने साबित कर दिया कि वह शासक वर्ग का कितना प्रभावी हथियार है। इस हथियार से, सर्वोपरि तौर पर शासक वर्ग एक मनोवैज्ञानिक युद्ध लड़ता है, एक प्रचार-युद्ध लड़ता है—अपनी ही जनता के खिलाफ!

— योगेश पन्त

भारत में क्रान्तिकारी वामपंथी आन्दोलन की समस्याएं : एक बहस

सवाल को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखना होगा!

(पेज 1 से आगे)

को या तो पूरीतरह तिलांजलि दे दी है या उनमें ऐसे गम्भीर भटकाव मौजूद हैं। दरअसल भा.क.पा. (मा-ले) के अधिकांश घटकों ने चारू मजुमदार के नेतृत्वकाल की वामपंथी दुस्साहसवादी लाइन का एक मुकम्मल सैद्धान्तिक आधार पर समाहार करने के बजाय अनुभववादी ढंग से, हालात की ठोकरें खाकर, समझने-ठीक करने की कोशिशें की। ऐसा करते हुए, इनका दक्षिणपंथी अवसरवादी प्रवृत्ति के विभिन्न रूपों तक—ट्रेडयूनियनवादी, जुझारू अर्थवादी, या संसदवादी भटकावों तक पहुंच जाने का खतरा मौजूद था। और यह हुआ भी। ऐसे तमाम संगठनों ने बोल्शेविज्म के उसूलों में ढील देते हुए अपने सांगठनिक ढांचों को भी काफी ढीला-ढाला और खुला कर दिया तथा कार्य पद्धति के तौर पर भी जनवादी केन्द्रीयता के बजाय या तो नौकरशाहाना केन्द्रीयता को लागू करते रहे या अतिजनवाद की चपेट में आकर विसर्जन या विघटन की ढलान पर लुढ़कते रहे। यह स्वाभाविक था, क्योंकि क्रान्तिकारी जनदिशा पर अमल और बोल्शेविक सांगठनिक ढांचे एवं कार्यप्रणाली का द्वंद्वात्मक अन्तर्सम्बन्ध होता है।

कुछ ऐसे भी संगठन हैं जो व्यवहार में तो आतंकवादी या वामपंथी दुस्साहसवादी लाइन और (निम्न पूंजीवादी ढंग की) जनदिशा की खिचड़ी पका रहे हैं। चारु मजुमदार काल की लाइन और श्री काकुलम से लेकर भोजपुर तक के उसके व्यवहार से ऐसे संगठन काफी दूर आ चुके हैं, पर कथनी में वे पूरी तरह 1970 की बुनियादी लाइन के पूर्णत: सही होने और उसी पर अमल करने का दावा करते हैं। यह एक तरह का अवसरवाद है जो अपनी तार्किक परिणति तक पहुंचकर रहेगा।

सांगठनिक ढांचे और कार्यपद्धति का सवाल हमने यहां सबसे पहले इसलिए उठाया, क्योंकि इसका महत्व विचारधारात्मक है। संगठन कैसे खड़ा किया जाता है और चलाया जाता है, इसी से यह स्पष्ट हो जाता है कि हमने मार्क्सवादी विचारधारा को सही ढंग से समझा-पकड़ा है या नहीं। यदि संगठन का ढांचा और कार्यप्रणाली इतिहाससिद्ध बोल्शेविक मानकों के अनुरूप न हो, और संगठन के पास यदि क्रान्ति के मंजिल व रास्ते की सही समझ हो भी, तो वह संगठन उस समझ को व्यवहार में लागू नहीं कर सकता। उसकी "सही समझ" महज प्रोफेसराना या अकादमिक ही होगी। ऐसा संगठन न तो अपनी लाइन को लागू कर सकता है और न ही एक सर्व भारतीय क्रान्तिकारी सर्वहारा पार्टी के पुनर्गठन में कोई भूमिका ही निभा सकता है।

सांगठनिक ढांचे और कार्यपद्धति का सवाल एक और कारण से महत्वपूर्ण है। लेनिन के अनुसार, किसी भी संगठन के भीतर सतत् मन्द और उग्र, प्रच्छन्न और प्रत्यक्ष रूप में, ठोस व्यवहार के हर प्रश्न पर दो लाइने मौजूद रहती हैं। इन दो लाइनों का संघर्ष ही सर्वहारा सांगठनिक ढांचे का Living Organism होता है ओर यह दो लाइनों का संघर्ष केवल जनवादी केन्द्रीयता के उसूलों को अमल में लाने वाले संगठनों में ही सम्भव है। यानी जनवादी केन्द्रीयता का अंशत: -पूर्णत: निषेध करने वाले संगठनों का Living Organism ही कमजोर होता है या अनुपस्थित होता है। मृत शरीर अन्तर्क्रिया नहीं करते। जिन संगठनों के भीतर ही दो लाइनों का संघर्ष स्वस्थ ढंग से सम्भव नहीं वे क्रान्ति के कार्यक्रम या लाइन के किसी भी पहलू पर अन्य बिरादर संगठनों से भी दो लाइनों का संघर्ष नहीं चला सकते। कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी शिविर में स्वस्थ 'पालिमिक्स' के अभाव का एक अहम कारण भी वहीं मौजूद है, जहां क्रान्तिकारी जनदिशा के सही ढंग से लागू नहीं हो पाने का कारण मौजूद है—यानी सांगठनिक ढांचे और कार्य-प्रणाली में।

एक सही क्रान्तिकारी चरित्र की पार्टी न हो तो सही कार्यक्रम के होते हुए भी क्रान्ति सम्भव नहीं। अत: सर्वहारा संगठनों के लिए सांगठनिक लाइन का उपरोक्त सवाल विचारधारात्मक महत्व का सवाल है।

●

वास्तव में भारत के वामपंथी आन्दोलन की विचारधारात्मक कमजोरी की एक लम्बी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि रही है। चीजें इतिहास में भी बहुधा इण्टरनेशनल या क्रान्ति कर चुकी पार्टियों के लेखों-मूल्यांकनों-सुझावों से तय की जाती रहीं और विचारधारा एवं सिद्धान्त के बुनियादी मसलों पर गहरी समझ बनाने की जरूरत ही नहीं महसूस की गई, क्योंकि क्रान्ति की रणनीति और आम रणकौशल के निर्धारण के लिए ठोस परिस्थितियों का विश्लेषण स्वयं करने के लिए ही विचारधारात्मक उपकरण को मजबूत करने की जरूरत महसूस की जा सकती है।

जिस देश की पार्टी के नेतृत्व की मार्क्सवादी विचारधारा की समझ कमजोर हो और जहां ठोस व्यवहार में लगे पार्टी संगठनकर्ताओं और कार्यकर्ताओं को स्तर-अनुसार दर्शन, राजनीतिक अर्थशास्त्र तथा क्रान्ति की रणनीति और रणकौशलों के सवाल पर शिक्षित नही किया जायेगा, वहां व्यवहार-सिद्धान्त-व्यवहार की एक लम्बी प्रक्रिया से गुजरकर क्रान्ति के एक सही कार्यक्रम तक नहीं पहुंचा जा सकता। ऐसा इसलिए कि पार्टी-कार्यक्रम ही वह सबसे महत्वपूर्ण उपादान होता है जिसमें विचारधारा मूर्त रूप ग्रहण करती है। मार्क्सवादी संगठन द्वंद्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद के उपकरण का प्रयोग कर अपने देश के लिए क्रान्ति के कार्यक्रम के 'ड्राफ्ट्स' (मसविदे) पेश करते हैं। एक ओर अपने मसविदे के फ्रेमवर्क में जनता के विभिन्न वर्गों के बीच जन-कार्य करते हुए संगठन अपनी लाइन को सत्यापित करने का तथा उनके बीच से अग्रिम तत्वों को पार्टी-कतारों मं भरती करने का काम करते हैं, दूसरी ओर वे कार्यक्रम के प्रश्न पर अलहदा पोजीशन लेकर खड़े संगठनों के साथ अपनी समझ और अनुभव के आधार पर बहस चलाते हैं तथा एक एकीकृत पार्टी-गठन की दिशा में आगे कदम बढ़ाते हैं।

एक सर्व भारतीय पार्टी के निर्माण एवं गठन के लक्ष्य को तभी पूरा किया जा सकता है जबकि क्रान्तिकारी सर्वहारा संगठनों के संगठनकर्ता और कार्यकर्ता मार्क्सवादी विज्ञान का लगातार गहन अध्ययन करें, सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक प्रयोगों से परिचित हों, मार्क्सवादी विज्ञान की सुसंगत समझ को लेकर वे वर्ग-संघर्ष के प्रयोग में लगें और अपने समाज के आर्थिक मूलाधार राजनीतिक-सामाजिक-संरचना एवं वर्गों की लामबंदी के बारे में एक स्पष्ट समझ बनायें तथा इस आधार पर बिरादर संगठनों के साथ बहस चलायें।

अक्सर ऐसा देखने में आ रहा है कि कुछ संगठन जनता के विभिन्न वर्गों को जागृत, गोलबंद और संगठित कामों से कटकर, क्रान्ति की समस्याओं पर महज शोध-अध्ययन, व्याख्यान, अध्ययन मण्डल, प्रकाशन आदि कामों को और पार्टी कतारों को "पढ़ा-लिखाकर" ही सांगठनिक सुदृढ़ीकरण के काम को तथा अन्य संगठनों से बहस-वार्ताओं के काम को ही आज का मुख्य या एकमात्र संभव काम मानते हैं और समझते हैं कि इसी से वे अखिल भारतीय सर्वहारा पार्टी खड़ी कर लेंगे। बुनियादी वर्गों से बरसों से कटे हुए या महज कुछ रुटीनी कवायद करते हुए ऐसे संगठन पुस्तक पूजा, अकादमिकतावाद और निष्क्रिय किस्म की वामपंथी लफ्फाजी के भटकाव के शिकार हैं। भारत में कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों की एकता में कोई योगदान दे पाने के बजाय ऐसे संगठन खुद ही विलोप की तरफ अग्रसर हैं, कई एक तो "मुक्त चिन्तकों" की मण्डली बन चुके हैं ओर कई एक विसर्जित भी हो चुके हैं।

दूसरे छोर पर कुछ ऐसे क्रान्तिकारी वामपंथी संगठन खड़े हैं जो आपसी बातचीत, बहस-मुबाहसे से लगभग मायूस हो चले हैं और यह मानने लगे हैं कि पूरे शिविर से कटकर बस अपने काम में लगे रहो। इससे एक दिन उनकी लाइन सही साबित हो जायेगी और पूरा क्रान्तिकारी शिविर उनके पीछे लामबन्द हो जाने के लिए बाध्य हो जायेगी। उनका यह आत्मकेन्द्रणवाद संकीर्ण ग्रुप-मानसिकता को जन्म दे रहा है। प्राय: वे कुछ रुटीनी कार्रवाइयों में लगे हुए घातक आत्मतोष में जी रहे हैं। इनमें से कुछ "वामपंथी" भटकाव के शिकार हैं तो कुछ दक्षिणपंथी ढलान पर लुढ़क रहे हैं। मुखपत्र निकालना भी ऐसे संगठनों की एक रुटीनी कार्रवाई है, जिनमें राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय घटनाओं पर "घिसे-पिटे पार्टी लेखन" के प्रतिनिधि उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं, गाहे-बगाहे 'पालिमिक्स' के नाम पर विरोधी संगठनों को गलियाने-सरापने का काम किया जाता है और विभिन्न रुटीनी कार्रवाइयों की रपटें तथा मौजूं विषयों पर प्रस्ताव आदि छपते रहते हैं।

यह पूरी स्थिति कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी शिविर में व्याप्त ठहराव को ही प्रकट करती है और सिद्ध करती है कि सर्वहारा वर्ग की क्रान्तिकारी पार्टी खड़ी करने के लिए एकता-प्रयासों के अब तक जारी पद्धति और प्रक्रिया को दुहराते रहने के बजाय हमें कोई और पद्धति और प्रक्रिया अपनानी होगी और नई परिस्थितियों में, सोच-समझकर नई शुरुआत करनी होगी। तीन दशक का समय काफी लम्बा होता है।

●

स्तालिन की मृत्यु के बाद ख्रुश्चोव के विश्वासघात और सोवियत संघ में पूंजीवादी पुनर्स्थापना को समझने में भारत की कम्युनिस्ट कतारों को माओ त्से-तुङ के नेतृत्व और चीन की पार्टी से मार्गदर्शन मिला। पर समय ने बाद में स्पष्ट कर दिया कि 'महान बहस' और सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की विचारधारात्मक अन्तर्वस्तु पर भारत के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों की पकड़ बहुत कमजोर थी। माओ की मृत्यु के बाद चीन में पूंजीवादी पुनर्स्थापना को समझने और 'पोजीशन' लेने में अधिकांश संगठनों ने दस वर्षों से भी अधिक समय लगाया और जब पोजीशन लिया भी तो सैद्धान्तिक समझ के बजाय कुछ अनुभववादी और व्यावहारिक मानकों के आधार पर लिया। समाजवादी संक्रमण, सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति तथा पूंजीवादी पुनर्स्थापना के कारणों की सुसंगत समझ के अभाव के चलते ही सोवियत संघ के विघटन और पूर्वी यूरोप की घटनाओं की भी गम्भीर विश्लेषणपरक व्याख्या बहुत कम संगठनों ने प्रस्तुत की (भले ही उनके नतीजे सही हों)। जो कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी संगठन सोवियत संघ और उसके खेमे के देशों में पहले से ही राजकीय इजारेदार पूंजीवाद को काबिज मानते थे, उनकी कतारों में 1985-90 की घटनाओं से निराशा या विभ्रम नहीं फैलना चाहिए था, जब महज यह हो रहा था कि समाजवादी मुखौटे वाले राजकीय एकाधिकारी पूंजीवाद का स्थान पश्चिमी ढंग का निजी पूंजीवाद ले रहा था। वर्ग शक्ति संतुलन में बदलाव, साम्राज्यवाद की बढ़ी हुई आक्रामकता या क्रान्ति की धारा पर प्रतिक्रान्ति की धारा का एकबारगी एकदम हावी हो जाना भी वक्ती तौर पर निराशा तो पैदा कर सकता है, पर वह क्रान्तिकारी शिविर में विघटन और अनेकश: नये-नये भटकावों- बचकानेपन को जन्म नहीं देता, बशर्ते कि क्रान्तिकारी संगठनों का विचारधारात्मक आधार पहले से ही कमजोर नहीं होता।

क्रान्तिकारी कतारों को आज फिर से असली और नकली मार्क्सवाद के बीच के बुनियादी अन्तरों के बारे में बताने की जरूरत महसूस हो रही है। यदि इस सवाल पर सफाई रहती तो चीन की मौजूदा सत्ता के पूंजीवादी चरित्र या भाकपा (मा-ले) लिबरेशन जैसे संगठनों के नग्न संशोधनवादी चरित्र के बारे में कतारों की स्पष्ट समझ अस्सी के दशक के प्रारम्भिक वर्षों में भी बन गई होती।

●

भारत के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के बीच एक अहम मतभेद क्रान्ति की मंजिल, उसकी रणनीति और आम रणकौशल के सवालों पर है।

कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी संगठनों का बड़ा हिस्सा मानता है कि भारतीय समाज अभी जनवादी क्रान्ति की मंजिल में है। कुछ अन्य क्रान्तिकारी संगठनों का मानना है कि भारतीय समाज में "प्रशियाई मार्ग" से जनवादी क्रान्ति के कार्यभार मुख्यत: पूरे हो चुके हैं और यह समाजवाद की मंजिल में प्रविष्ट हो चुका है जो भारतीय मेहनतकश अवाम की लड़ाई साम्राज्यवाद और उसके जूनियर पार्टनर देशी पूंजीवाद से है।

आगे हम इन दोनों धाराओं का अति संक्षिप्त परिचय देंगे, क्योंकि यहां कार्यक्रम के प्रश्न पर मतभेद और बहस के विस्तार में जाने के बजाय हमारा मक़्सद उन बुनियादी कारणों की पड़ताल करना है जिनके चलते यह मतभेद हल नहीं हो रहा है और क्रान्तिकारी वामपंथियों की एकता-प्रक्रिया आगे ही नहीं बढ़ पा रही है।

इसके बाद इस पूरे सवाल को हम पूरे ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखने की कोशिश करेंगे, क्योंकि इसके बिना पूरा परिदृश्य सिर्फ निराशाजनक ही लगता रहेगा। न तो इसका दूसरा पहलू दिखाई देगा और न ही गतिरोध को तोड़कर नई शुरुआत करने की दिशा और मार्ग ही स्पष्ट हो पायेगा।

(अगले अंक में जारी)

उन मजदूरों के लिए एक बहुत जरूरी किताब जो अक्टूबर क्रान्ति का परचम एक बार फिर लहराना चाहते हैं।

उन कम्युनिस्ट कार्यकर्ताओं के लिए एक बहुत जरूरी किताब, जो भारत में एक क्रान्तिकारी पार्टी का पुनर्निर्माण करना चाहते हैं।

उन संगठनकर्ताओं की एक मार्गदर्शक पुस्तिका जो मेहनतकश जनता को संगठित करने के काम में लगे हुए हैं।

कम्युनिस्ट पार्टी का संगठन और उसका ढांचा

● लेनिन

बिगुल पुस्तिका - एक

मूल्य - 5 रुपये मात्र

प्रतियां मंगाने के लिए तत्काल लिखें : **जनचेतना, 3/274, विश्वासखण्ड, गोमतीनगर, लखनऊ : 226 010**

बिगुल के लक्ष्य और स्वरूप पर जारी बहस

पी.पी. आर्य का पत्र : कूपमण्डूकी आर्तनाद और शेखीबाजी भरे धर्मोपदेश का पिटारा

सर्वहारा वर्ग का हिरावल दस्ता बनने के बजाय उसका पिछवाड़ा निहारने की जिद

• विश्वनाथ मिश्र

नागरिक पी.पी. आर्य अपने पत्र में बोल्शेविक नीति और आम कार्यनीति को सिर के बल खड़ा करते हुए यह धर्मोपदेश देते हैं कि मजदूर आंदोलन में समाजवादी राजनीति का प्रचार तभी किया जा सकता है, जब वह उठान पर होता है और समाजवादी बातों की ग्राह्यता बहुत अधिक होती है। जब मजदूर आन्दोलन पीछे हट रहा हो और उसमें प्रतिक्रियावाद का माहौल हो, तब ऐसा करना गलत होगा। यह हिरावलपंथ होगा।

लेनिन का एक उद्धरण चेंपते हुए वह बताते हैं कि आन्दोलन के प्रारम्भिक दौरों में कम्युनिस्टों को सिर्फ सांस्कृतिक या आर्थिक कार्य ही करते रहना पड़ता है। पी.पी.आर्य यह नहीं समझते कि मजदूर आन्दोलन में हार और उलटाव का अर्थ प्रारम्भिक दौर में वापस चले जाना नहीं होता। भारतीय मजदूर आन्दोलन में वामपंथी प्रभाव का इतिहास ही अस्सी साल पुराना है। उसे शून्य समझना पराजयवाद है (या फिर शायद ऐसे लोग वहाँ से शुरुआत मानते हों जहां से राजनीति में उनका जन्म हुआ हो)। कंवल आर्थिक कार्य करने वालों को तो मजदूर वर्ग बरसों से देख ही रहा है और उनसे पक चुका है। अब उसके सामने क्रान्तिकारी जनकार्य का सही मॉडल प्रस्तुत करने की जरूरत है। पराजय भी एक अर्थ में मजदूरों की चेतना को उन्नत बनाती है। मजदूर वर्ग में समाजवादी विचारों की ग्राह्यता है या नहीं, यह निर्णय वैज्ञानिक समाजवादी विचारों के प्रचार कार्य को हाथ में लिए बिना तो वैसे भी नहीं लिया जा सकता।

वामपंथी क्रान्तिकारी आन्दोलन में साथी पी. पी. आर्य जैसे लोगों की अच्छी खासी तादाद है जो आज की प्रतिकूल परिस्थितियों में सही कार्यनीति अपनाने के बजाय रोते-कलपते-बिसूरते हुए सर्वहारा वर्ग के बीच सर्वोपरि प्राथमिकता देकर किये जाने वाले राजनीतिक कामों का ही परित्याग कर देते हैं। और यह स्वाभाविक है क्योंकि उनका मानना है कि भारत के लगातार पीछे हटते मजदूर आन्दोलन में उन्नत चेतना वाले मजदूर रह ही नहीं गये हैं। इसीलिए उनका मानना है कि राजनीतिक शिक्षा और प्रचार तथा मजदूर वर्ग के बीच पार्टी-निर्माण के काम को छोड़कर अपने को सिर्फ आर्थिक कार्यों और निम्न स्तर की सुधार की कार्रवाइयों तक ही सीमित रहना चाहिए।

यह कूपमण्डूकी "आर्तनाद" सर्वहारा क्रान्तियों के इतिहास में कठिन स्थितियों में पहले भी उठता रहा है। **"कठिनाइयों और गलतियों से हतोत्साहित होना भीरुता है; यह कूपमण्डूकों का "आर्तनाद" है, जबकि हमें दरकार धीर, सतत और अनवरत सर्वहारा प्रयास की है"** (*लेनिन : 'बोल्शेविज्म का विट्रप', 'अराजकतावाद और अराजकतावादी संघाधिपत्यवाद' शीर्षक संकलन, पृ. 230, प्रगति प्रकाशन, 1984*)।

भारतीय क्रान्तिकारी वामपंथी आन्दोलन में अर्थवादी और अराजकतावादी संघाधिपत्यवादी प्रवृत्तियों के उद्भव और विकास को समझने में रूसी क्रान्ति के इतिहास से हमें काफी मदद मिलती है। ट्रेड यूनियनों के प्रति पार्टी के रवैये के बारे में **बोइनोव (ए.वी.लुनाचार्स्की)** की पुस्तिका की भूमिका में **लेनिन** ने लिखा था, **"पश्चिमी यूरोप के बहुतेरे देशों में क्रान्तिकारी** संघाधिपत्यवादी और अराजकतावादी प्रवृत्तियों के उद्भव और विकास को समझने में रूसी क्रान्ति के इतिहास से हमें काफी मदद मिलती है। ट्रेड यूनियनों के प्रति पार्टी के रवैये के बारे में **बोइनोव (ए.वी.लुनाचार्स्की)** की पुस्तिका की भूमिका में **लेनिन** ने लिखा था, **"पश्चिमी यूरोप के बहुतेरे देशों में क्रान्तिकारी संघाधिपत्यवाद अवसरवाद, सुधारवाद और संसदीय जड़वामनवाद का एक प्रत्यक्ष और अपरिहार्य परिणाम था। हमारे देश में भी "दूमा कार्रवाई" के पहले कदमों ने अवसरवाद को अपार विस्तार प्रदान किया और मेंशेविकों को कैडेटों के जी-हुजूरियों में तब्दील कर दिया। मिसाल के तौर पर, प्लेखानोव, अपने दैनन्दिन राजनीतिक कार्य में वस्तुतः प्रोकोपोविच और कुस्कोवा महाशयों के साथ घुल-मिल गये। 1900 में उन्होंने बर्नस्टीनवाद के लिए, रूसी सर्वहारा के सिर्फ "चूतड़" ही निहारने के लिए, उनकी भर्त्सना की थी ('रबोचेये देलो' के सम्पादक मण्डल के लिए *Vademecum*, जेनेवा, 1900)। पर 1906-07 में पहले ही मतपत्रों ने प्लेखानोव को इन सज्जनों की बाँहों में धकेल दिया जो अब रूसी उदारतावाद का "चूतड़" निहार रहे हैं। संघाधिपत्यवाद रूस की जमीन पर "प्रतिष्ठित" सामाजिक जनवादियों के इस लज्जास्पद आचरण के विरुद्ध प्रतिक्रिया की तरह उत्पन्न हुए बिना नहीं रह सकता"** (*लेनिन : कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 13, पृ. 166*)।

लेनिन के इस तर्क को हम अपने देश के मजदूर आन्दोलन के इतिहास पर भी लागू कर सकते हैं। तेलंगाना संघर्ष की पराजय के बाद लगभग पन्द्रह वर्षों के संशोधनवादी घटाटोप की प्रतिक्रिया के तौर पर ही चारु मजुमदार का वामपंथी दुस्साहसवादी भटकाव पैदा हुआ। सही ढंग से और साहसपूर्ण ढंग से इस भटकाव का समाहार करने के बजाय पैबन्द लगाकर और इंच-इंच खिसककर गलती को ठीक कर लेने की गलत पहुंच (अप्रोच) के कारण सत्तर और खासकर अस्सी के दशक में कई वामपंथी क्रान्तिकारी संगठन अलग-अलग रूपों में अर्थवाद, सुधारवाद, संसदवाद या अकादमिकवाद के गड्ढे में जा गिरे। इसकी एक प्रतिक्रिया यदि वामपंथी दुस्साहसवाद की धारा की निरन्तरता के रूप में हो रही है तो दूसरी प्रतिक्रिया अराजकतावादी संघाधिपत्यवाद के रूप में सामने आ रही है।

पी.पी. आर्य जैसे लोगों की धारा एक मिली-जुली धारा है जो मिली-जुली स्थिति की प्रतिक्रिया और परिणाम है।

वामपंथी क्रान्तिकारी धारा में राजनीतिक कार्यों के सामाजिक जनवादी, अकादमिक और 'पैसिव रैडिकल' स्वरूप और उसकी परिणतियों के प्रतिक्रियास्वरूप ऐसे लोग राजनीतिक कार्यों की सर्वोपरिता और नेतृत्वकारी भूमिका को ही खारिज करने लगे हैं और बुनियादी आर्थिक कार्यों को ही आज की एकमात्र जरूरत बताने लगे हैं। ऐसा करते हुए वे और आगे बढ़कर, प्रकारान्तर से, पार्टी-निर्माण के पहलू की ही उपेक्षा करने लगते हैं और अराजकतावादी संघाधिपत्यवादी पोजीशन अपना लेते हैं। दूसरी तरफ, जब वे उन्नत चेतना वाले मजदूरों को राजनीतिक शिक्षा व नेतृत्व देने तथा उनके बीच से पार्टी-भरती के काम की महत्ता को नकारते हुए मजदूरों के व्यापक, औसत और निम्न चेतना के संस्तरों तक पहुंचने की बात करते हैं तो स्पष्टतः गाड़ी के पीछे घोड़ा जोतने लगते हैं और भारतीय सर्वहारा वर्ग के नेता, शिक्षक, संगठनकर्ता की भूमिका निभाने के बजाय उसका "चूतड़" निहारने लगते हैं।

पी.पी. आर्य जैसे लोग कूपमण्डूकीय "आर्तनाद" करते हुए बताते हैं कि मजदूर वर्ग में भी अभी सीधे राजनीति और विचारधारा के प्रचार की कार्रवाई नहीं की जा सकती, क्योंकि आज भारत का मजदूर आन्दोलन लगातार पीछे हट रहा है। उनका मानना है कि आज हमें आर्थिक कार्य और निम्न स्तर के सांस्कृतिक कार्य तक सीमित रहना चाहिए। आपने इसका सही उत्तर दिया है कि ऐसी स्थिति में तो राजनीतिक कार्य की नेतृत्वकारी भूमिका और महत्ता और अधिक होनी चाहिए। जो लोग यह सोचते हैं कि मजदूर वर्ग को आर्थिक संघर्ष की शिक्षा देते-देते राजनीतिक संघर्ष की शिक्षा देने की मंजिल तक पहुंचाया जाता है (या वह खुद ही अपने को शिक्षित कर लेता है) वे मेंशेविक ही तो हैं।

रूस में जिस समय 1905-07 की प्रथम क्रान्ति **पराजय के कठिन दौर में** प्रवेश कर रही थी, उस समय भी **लेनिन** ने ट्रेड यूनियनों में क्रान्तिकारी कार्य की सर्वोपरिता को ही जोर देकर रेखांकित किया था। लेनिन की ऊपर उद्धृत रचना के ही इस अंश पर गौर कीजिए, जो उन्होंने नवम्बर 1907 में लिखी थी :

"कामरेड वोइनोव का रूसी सामाजिक जनवादियों (यानी कम्युनिस्टों -अनु.) से अवसरवाद के उदाहरण से और संघाधिपत्यवाद के उदाहरण से सीखने का आह्वान करने की लाइन अपनाना सही ही है। ट्रेड यूनियनों में क्रान्तिकारी कार्य, संसदीय तिकड़म के बजाय सर्वहारा वर्ग की शिक्षा पर जोर देना, शुद्ध वर्ग संगठनों को गोलबंद करना, संसद के बाहर संघर्ष, रूसी क्रान्ति में आम हड़ताल और "संघर्ष के दिसम्बरी रूपों" के उपयोग की क्षमता विकसित करना (और जनता को इनके सफल इस्तेमाल की सम्भावना के लिए तैयार करना) —यह सब बोल्शेविक प्रवृत्ति के कार्यभार के रूप में बहुत अधिक अहमियत हासिल कर लेता है" (*पूर्वोद्धृत, पृ. 167*)।

नागरिक पी.पी. आर्य के पत्र से आम कार्यनीति की जो अधकचरी समझ टपक रही है, उसका दिवाला पिटने में देर नहीं लगेगी। इस राजनीति पर 'जेनुइन' मार्क्सवादी संगठनकर्ताओं-कार्यकर्ताओं को बहुत दिनों तक एकजुट नहीं रखा जा सकता, चाहे विरोधी संगठनों के बारे में जितना भी गाली-गलौज, कुत्सा-प्रचार किया जाये। जो मार्क्सवाद की छीछालेदर करने की कोशिश करते हैं, मार्क्सवाद उनकी अत्यन्त दुर्गतिपूर्ण छीछालेदर कर देता है। •

कम्युनिस्ट घोषणापत्र की 150वीं और पेरिस कम्यून की 128वीं वर्षगांठ के अवसर पर **बिगुल पोस्टर श्रृंखला** के तहत प्रकाशित दो आकर्षक और प्रेरणादायी पोस्टरों (**बिगुल पोस्टर-एक व बिगुल पोस्टर-दो**) के लिए लिखें :

जनचेतना, 3/274, विश्वास खण्ड, गोमतीनगर, लखनऊ-226 010

> "**बिगुल के लक्ष्य और स्वरूप पर एक बहस और हमारे विचार**" शीर्षक अप्रैल 1999 के सम्पादकीय पर साथी पी.पी. आर्य का पत्र हमने जून-जुलाई 1999 अंक में छापा था और उसका उत्तर भी दिया था। पी.पी. आर्य के पत्र पर ही हम इस अंक में साथी विश्वनाथ मिश्र और अरविन्द सिंह की दो टिप्पणियां दे रहे हैं। हम एक बार फिर इस बहस में क्रान्तिकारी वामपंथी शिविर के साथियों की भागीदारी आमंत्रित करते हैं। —सम्पादक

भारतीय मजदूर आन्दोलन की पश्चगामी* यात्रा के हिरावल "सेनानी"

• अरविन्द सिंह

कामरेड पी.पी. आर्य के ख्याल से, आज भारत का मजदूर आन्दोलन इतना अधिक पीछे चला गया है कि उसके बीच राजनीतिक-विचारधारात्मक शिक्षा और प्रचार का कोई मतलब ही नहीं है। उनके ख्याल से 'बिगुल' के लोग "*मजदूर आन्दोलन की वर्तमान कमजोर स्थिति*" और "*राजनीतिक चेतना की गिरावट का ठीक-ठीक अन्दाजा ही नहीं लगा पा रहे हैं*", इसलिए "*मजदूर आन्दोलन पर ऐसी बहुत-सारी सामग्री लादने की कोशिश कर रहे हैं जो आन्दोलन की आवश्यकताओं से मेल नहीं खाती हैं।*" पी.पी. आर्य का ख्याल है कि आज जैसी स्थिति में मजदूरों के बीच आर्थिक और निम्न स्तर के सांस्कृतिक-शैक्षिक कार्य ही किये जा सकते हैं। ज्यादा से ज्यादा वे इतनी ही इजाजत देने को तैयार हैं कि "मास पोलिटिकल पेपर" में "*वैज्ञानिक समाजवादी दृष्टिकोण से शोषण के वर्गीय स्वरूप, राजसत्ता की वर्गीय पक्षधरता, देश-समाज की घटनाओं का वर्गीय विश्लेषण होना चाहिए*" और यह कि "*यह भण्डाफोड़ लेखों से भरा होना चाहिए।*"

वैसे तो राजनीतिक मोतियाबिन्द की वजह से पी.पी. आर्य शायद यह देख नहीं पाये हैं कि '**बिगुल**' में मजदूरों को राजनीतिक शिक्षा देने के लिए ज्यादातर, देश के विभिन्न हिस्सों में चल रहे जन संघर्षों, हड़तालों और उनकी हार-जीत के विश्लेषण को तथा सरकारी नीतियों-फैसलों और अहम राजनीतिक घटनाओं के विश्लेषण को ही माध्यम बनाया जाता है। हां, ऐसे भण्डाफोड़ या समाहार मूलक लेखों का स्तर उन्नत चेतना के मजदूरों और कार्यकर्ताओं के हिसाब से प्रधानतः तय होता है। इसके अतिरिक्त, इतिहास की महत्वपूर्ण घटनाओं व नायकों की वर्षगांठों के माध्यम से, कुछ स्वतंत्र वैचारिक टिप्पणियों के माध्यम से तथा बहुत सीमित हद तक सीधे विचारधारा पर केन्द्रित लेखों के माध्यम से राजनीतिक शिक्षा दी जाती है और क्रान्तिकारी वामपंथ की वर्तमान समस्याओं और कार्यभारों के बारे में बताया जाता है।

पर मुख्य बात यह नहीं है। पी.पी. आर्य का मूल प्रस्थान-बिन्दु ही यह है कि हमें औसत और आम मजदूर को ध्यान में रखकर आर्थिक एवं जनवादी-राजनीतिक अधिकार आदि के मसलों पर लिखना चाहिए और आज की स्थिति में मुख्यतः आर्थिक-सांस्कृतिक कामों तक सीमित रहना चाहिए।

सम्पादकीय प्रत्युत्तर (जून-जुलाई 1999 अंक) में इस बात को भलीभांति स्पष्ट किया गया है कि प्रतिकूलतम स्थितियों में भी राजनीतिक अखबार के जरिए, मुख्यतः वर्ग-सचेत मजदूरों को क्रान्तिकारी हरावल पांतों तक लाने के लिए प्रचार, शिक्षा, आन्दोलन व संगठन की कार्रवाई चलायी जानी चाहिए। इस सोच से विचलन लेनिनवादी कार्यनीति से विचलन होगा।

हम यहां जोड़ना यह चाहते हैं कि हर सामाजिक जनवादी (i) **जनता में आस्था की कमी के कारण उसके पिछड़ेपन को बढ़ा-चढ़ाकर आंकता है, (ii) साहसपूर्ण प्रयासों और राजनीतिक पहल की चुनौतियों से कतराकर जनता और वस्तुगत परिस्थितियों पर दोष मढ़ता रहता है (iii) आभासी यथार्थ को ही सारभूत यथार्थ मानता रहता है और (iv) वस्तुनिष्ठता का आग्रह करता हुआ कूपमण्डूकी कायरता की खोल में घुस जाता है।**

1905 की क्रान्ति के पहले, ऊपरी तौर पर रूसी जनता बहुत अशिक्षित और पिछड़ी हुई थी, यह 22 जनवरी, 1905 के "खूनी इतवार" को गेपन पादरी के नेतृत्व में जार से दरख्वास्त के मजमून से भी साफ था। इन्हीं स्थितियों में "खूनी इतवार" से ठीक दो दिन पहले "कानूनी मार्क्सवादी" (वस्तुतः उदारवादी-राजतंत्रवादी पूंजीवादी) **स्त्रुवे** (जो रूस के बाहर से गैरकानूनी स्वतंत्र अखबार '**ओस्वोबोज्देनिये**' निकालता था) ने कहा था कि "**रूस में अभी तक क्रान्तिकारी जनता नहीं है।**" आगे **लेनिन** के शब्दों में, "**पूंजीवादी सुधारवादियों के उस उच्च शिक्षित, महादम्भी और नितान्त निर्बुद्धि नेता को यह विचार बहुत ही मूर्खतापूर्ण लगा था कि एक निरक्षर किसान देश भी क्रान्तिकारी जनता पैदा कर सकता है। उन दिनों के सुधारवादियों को—आज के सुधारवादियों की तरह ही—इस बात का कितना गम्भीर विश्वास था कि एक वास्तविक क्रान्ति असम्भव है।**

"22 जनवरी (पुराने कैलेण्डर से 9 जनवरी), 1905 से पहले रूस की क्रान्तिकारी पार्टी में थोड़े से गिने-चुने लोग ही थे, और उन दिनों के सुधारवादी (ठीक आज के सुधारवादियों की तरह ही) हमें एक "सम्प्रदाय" कहकर हमारी हंसी उड़ाते थे। कुछ सौ क्रान्तिकारी संगठनकर्ता, स्थानीय संगठनों के कुछ हजार सदस्य, आधा दर्जन क्रान्तिकारी पर्चे जो महीने में एक बार से अधिक नहीं निकल पाते थे और मुख्यतः विदेशों से प्रकाशित होते थे तथा अकल्पनीय कठिनाइयों और भारी कुर्बानियों की कीमत पर रूस में चोरी-छिपे पहुंचाये जाते थे—ऐसी थीं 22 जनवरी, 1905 से पहले रूस की क्रान्तिकारी पार्टियां और ऐसा था विशेषतः क्रान्तिकारी सामाजिक जनवाद। ऐसी परिस्थिति के कारण संकुचित बुद्धि और दम्भी सुधारवादियों को यह दावा करने के लिए नियमित आधार मिला कि रूस में उस समय तक क्रान्तिकारी जनता का अस्तित्व नहीं था।

"फिर भी कुछ महीनों के भीतर ही तस्वीर एकदम बदल गई। क्रान्तिकारी सामाजिक जनवादियों की संख्या "चकायक" सैकड़ों से बढ़कर हजारों तक पहुंच गई और वे हजारों, बीस से तीस लाख सर्वहारा के नेता बने। सर्वहारा वर्ग के संघर्ष ने पांच करोड़ से दस करोड़ तक किसान जनता में गहरी और जोरदार अशान्ति तथा आंशिक रूप से एक क्रान्तिकारी आन्दोलन को जन्म दिया। किसान आन्दोलन की गूंज फौज में पहुंची, जिसके फलस्वरूप सैनिकों के विद्रोह हुए, फौज के एक हिस्से और दूसरे हिस्से के बीच हथियारबन्द टक्करें हुईं। इसतरह तेरह करोड़ आबादी के एक विशाल देश ने क्रान्ति में प्रवेश किया। इसप्रकार ऊंघता हुआ रूस क्रान्तिकारी सर्वहारा और क्रान्तिकारी जनता के रूस में परिणत हो गया।"

(*लेनिन : 'लेक्चर ऑन द 1905 रेवोल्यूशन', कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 23, पृ. 238, 9 जनवरी 1917 से पहले लिखित*)

कामरेड पी.पी. आर्य जैसे लोगों को आज के भारत के मजदूरों में, स्त्रुवे की तरह ही दूर-दूर तक क्रान्तिकारी सम्भावनाएं नजर नहीं आ रही हैं। वे सन्नाटे की सतह के नीचे की विस्फोटक संकटापन्न स्थितियों के सीझने-पकने की क्रिया को नहीं देख पा रहे हैं। उन्हें सबकुछ लगातार पीछे जाता हुआ ही दीख रहा है।

हम लेनिन के उपरोक्त भाषण के हवाले से ही बता दें कि जनवरी 1905, यानी क्रान्ति के पहले महीने में हड़तालियों की संख्या 4 लाख 40 हजार थी, जो क्रान्ति के पहले के पूरे दस वर्षों में हड़तालियों की संख्या (4 लाख 30 हजार) से भी अधिक थी। अक्टूबर, 1905 में यह संख्या 5 लाख से अधिक (सिर्फ एक माह में) हो चुकी थी। यह भी महत्वपूर्ण है कि जनवरी, 1905 में विशुद्ध राजनीतिक हड़तालियों की संख्या 1 लाख 23 हजार, अक्टूबर में 3 लाख 30 हजार और दिसम्बर में 3 लाख 70 हजार थी।

इस परिवर्तन और राजनीतिक चेतना में चमत्कारी, विस्फोटक विकास के लिए, पी.पी. आर्य को भी इसकी सम्भावनाओं, रीतियों और रास्तों को, लेनिन का सुझाव मानकर समझने की कोशिश करनी चाहिए।

गेपन पादरी की रहनुमाई में जार बादशाह को दरख्वास्त देने जाने वाले रूसी मजदूरों से, **आज के भारतीय मजदूरों की चेतना, तमाम उलटाबों-पराजयों के बावजूद आगे है।** आभासी यथार्थ के पीछे का सारभूत यथार्थ यह है कि वह नकली वामपंथी और बुर्जुआ मजदूर नेताओं के पीछे खड़ा होते हुए भी, उनके बारे में कोई भ्रम नहीं रखता। उधर, देश का आर्थिक-राजनीतिक संकट 1905 के रूस से अधिक चौतरफा और व्यापक है। इसके विस्फोट तक की यात्रा में समय ज्यादा लग सकता है, पर साथ ही, यह भी पक्के तौर पर नहीं कहा जा सकता कि यह बहुत दूर है।

अपने उपरोक्त भाषण में ही **लेनिन** ने आगे तत्कालीन (जनवरी, 1917 के) यूरोप के बारे में कहा है, "**हमें यूरोप की वर्तमान शमशानवत शान्ति से धोखा नहीं खाना चाहिए। यूरोप क्रान्तिगर्भित है।**" आज भारत ही नहीं, पूरे एशिया, अफ्रीका, लातिन अमेरिका के देशों तथा रूस व पूर्वी यूरोप के कई एक देशों के बारे में भी यही कहा जा सकता है।

1905 की क्रान्ति की असफलता के अहम कारण यह थे कि (i) वहां सर्वहारा क्रान्तिकारी एकजुट नहीं थे, (ii) मजदूरों के एक हिस्से में मेंशेविकों का प्रभाव था (iii) किसान क्रान्ति में अपेक्षित सक्रिय सहयोगी नहीं बन सके और (iv) कम्युनिस्टों का एक बड़ा हिस्सा क्रान्तिकारी विस्फोट की आसन्नता और प्रचण्डता का पूर्वानुमान नहीं लगा पाया था।

इस आधार पर सोचें तो **आज के भारत की "श्मशानवत शान्ति" से धोखा खाने के बजाय यहां के सर्वहारा क्रान्तिकारियों को मजदूरों (और किसानों के बीच भी) में राजनीतिक प्रचार और उनके बीच सांगठनिक आधार को व्यापक बनाने का काम तथा आर्थिक संघर्ष के साथ-साथ कारखानों के संकुचित दायरे से बाहर आकर सरकार की नीतियों के खिलाफ व्यापक राजनीतिक संघर्षों, राजनीतिक हड़तालों के लिए उन्हें तैयार करने का काम तेज कर देना होगा। सर्वहारा पार्टी के पुनर्गठन-पुनर्निर्माण के प्रयासों को नये सिरे से गति देनी होगी और मजदूरों के बीच से हर तरह के सामाजिक-जनवादी प्रभावों को उखाड़ फेंकना होगा।**

इस 'आपरेटिव पार्ट' तक आते-आते पी. पी. आर्य जैसों की राजनीति से बिगुल-वादियों की राजनीति का अन्तर एकदम दिन के उजाले की तरह साफ हो जाता है।

○

पी.पी. आर्य के हिसाब से मजदूर वर्ग को वही विचार दिये जाने चाहिए जिनकी ग्राह्यता (रिसेप्टिविटी) हो। आज मजदूर समाजवादी विचारों को नहीं सुनता है (हालांकि यह एक कूपमण्डूक का कायरतापूर्ण अनुभववादी आकलन है, सर्वहारा वर्ग हर हमेशा समाजवाद के विचारों को सुनता है—कभी कम तो कभी ज्यादा, और जब कम लोग सुनते हैं तो प्रचार की अहमियत और बढ़ जाती है) अतः हमें "*स्थान-काल के भेद का ख्याल*" करते हुए अभी उन्हीं बातों का प्रचार करना चाहिए जो सर्वहारा वर्ग को "ग्राह्य" हों और वही काम करना चाहिए जो (संकुचित स्वार्थ की दृष्टि से) उसे पसन्द आये यानी कुछ आर्थिक और कुछ सुधारपरक कार्य!

बकौल साथी आर्य, "*भारत का मजदूर आन्दोलन आगे नहीं बढ़ रहा है, बल्कि पीछे हट रहा है*", अतः आगे बढ़ने के बजाय पीछे हटने में ही नेतृत्व देते हुए आर्य जी जैसे लोग आज अपनी हरावल भूमिका निभा रहे हैं! और विचारों के स्तर पर लगातार पीछे जाने में मार्गदर्शन करते हुए, कई मायनों में वे 'ओस्वोबोज्देनिये'-पंथियों और 'राबोचाया देलो'-पंथियों से भी पीछे पहले इण्टरनेशनल के जमाने के ब्रिटिश ट्रेड यूनियनवादियों तक जा पहुंचे हैं। ईश्वर जाने, मजदूर आन्दोलन कब पीछे हटना बन्द करेगा, ताकि हमारे साथियों को भी इस पश्चगामी यात्रा पर रोक लग सके!

राबर्ट शा नाम का एक अंग्रेज रंगसाज मजदूर था। वह पहले इण्टरनेशनल के संस्थापक सदस्यों में से एक था। जनवरी 1870 में, उसकी मृत्यु के बाद **मार्क्स** ने जो स्मृति-लेख लिखा था, उसमें उन्होंने यह चर्चा की थी कि उससमय की ब्रिटिश ट्रेड यूनियनें मूलतः स्थानीयतावादी थीं और वेतन और कुछ सुधार आदि की मांगों तक ही सीमित थीं। ब्रिटिश ट्रेडयूनियनवादी नेता हर कीमत पर इस ढांचे को बरकरार रखना चाहते थे, जबकि "**राबर्ट शा ने इण्टरनेशनल की स्थापना के बाद इन अभिप्रेत बंधनों को छिन्नभिन्न कर डालने तथा यूनियनों को सर्वहारा क्रान्ति के संगठित केन्द्रों में बदल डालने के काम को अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया।**" (*मार्क्स-एंगेल्स : कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड- 21, पृ. 92*)।

उसी दौर के ब्रिटिश ट्रेड यूनियनवादियों की तरह पी.पी. आर्य जैसे लोग सोचते हैं कि अभी "**मजदूर-यूनियनों को सर्वहारा क्रान्ति के संगठित केन्द्रों में बदल डालने की कोशिश**" नहीं की जानी चाहिए, क्योंकि स्थान-काल अभी इसके अनुकूल नहीं है। हमेशा यदि अनुकूल परिस्थितियों के इंतजार की तथा परिस्थितियों, जनता और मनमाफिक बात न करने वालों को कोसने-सरापने की आदत पड़ जाये तो विज्ञान के अध्ययन और क्रान्तिकारी व्यवहार के साथ-साथ, कलेजा मजबूत करने के लिए **गोर्की** की '**तूफानी पितरेल पक्षी का गीत**' जैसी रचनाएं भी पढ़नी चाहिए।

○

क्रान्तिकारी वामपंथी शिविर के एक "महामण्डलेश्वर" हैं जिनका विचार है कि चूंकि कार्यकर्ताओं की राजनीतिक चेतना का धरातल बहुत नीचे है अतः आज न तो एक सुसंगत सांगठनिक ढांचा बनाया जा सकता है, न ही जनवादी केन्द्रीयता के सांगठनिक उसूलों को लागू किया जा सकता है। साथी पी.पी. आर्य का कहना है कि चूंकि समूचे मजदूरों की चेतना का धरातल बहुत नीचे है, अतः उनके बीच राजनीतिक शिक्षा और राजनीतिक संघर्ष का काम नहीं किया जा सकता और उनके लिए ऐसा पत्र नहीं निकाला जा सकता जो राजनीतिक शिक्षक-प्रचारक-आन्दोलनकर्ता-संगठनकर्ता की भूमिका निभाये और सर्वोपरि तौर पर उन्नत चेतना के मजदूरों की अल्पसंख्या पर ध्यान दे (क्योंकि वे हैं ही नहीं)! इन दोनों "मौलिक"-"महान" विचार-सरणियों के बीच के योजक-सूत्रों को कार्यकर्ता ही नहीं, उन्नत चेतना वाले मजदूर भी आसानी से देख सकते हैं। दरअसल पी.पी. आर्य जैसे लोगों को अधकचरी सोच उपरोक्त "महामण्डलेश्वर" की परिपक्व विसर्जनवादी लाइन का ही 'बाई-प्रोडक्ट' है। कुछ "नवीन मौलिक प्रतिभाओं" ने नई लाइन की पौध तैयार करने के लिए कलम लगाई है, लेकिन उसी पुराने पेड़ पर, जो काफी पहले से रोग-ग्रस्त है। •

* पश्चगामी = पीछे जाने वाली

राहुल फाउण्डेशन के प्रकाशन

कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र	*–कार्ल मार्क्स, फ्रेडरिक एंगेल्स*	रु.10.00
अनश्वर हैं सर्वहारा संघर्षों की अग्निशिखाएं	*–दोलोरेस इबरुरी*	रु.10.00
समाजवादी की समस्याएं, पूंजीवादी पुनर्स्थापना और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति	*–शशिप्रकाश*	रु.12.00
क्यों माओवाद	*– शशिप्रकाश*	रु.10.00
अक्टूबर क्रान्ति और लेनिन	*–एल्बर्ट रीस विलियम्स*	रु.75.00
राजनीति अर्थशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्त (खण्ड-एक)		रु.60.00

बिगुल पुस्तिका श्रृंखला

कम्युनिस्ट पार्टी का संगठन और उसका ढांचा	*–वी. आई. लेनिन*	रु.5.00
मकड़ा और मक्खी	*–विल्हेल्म लीब्कनेख़्त*	रु.2.00
ट्रेड यूनियन काम के जनवादी तरीके	*–सर्जो रोस्तोवस्की*	रु.2.00

प्राप्त करने के लिए लिखें : **जनचेतना**
3/274, विश्वास खण्ड, गोमतीनगर, लखनऊ-226 010 ☎ 308896

मार्क्सवाद तथा सुधारवाद

• वी.आई. लेनिन

अराजकतावादियों के विपरीत मार्क्सवादी, सुधारों के लिए संघर्ष को, यानी मेहनतकशों की दशा में ऐसे सुधारों के लिए संघर्ष को स्वीकार करते हैं, जो सत्तारूढ़ वर्ग की सत्ता को नष्ट न करते हों। परन्तु इसके साथ ही मार्क्सवादी उन सुधारवादियों के विरुद्ध सर्वाधिक संकल्पपूर्वक संघर्ष करते हैं, जो प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में मजदूर वर्ग के प्रयासों तथा गतिविधियों को सुधारों तक सीमित करते हैं। सुधारवाद मजदूरों के साथ बुर्जुआ धोखाधड़ी है, जो पृथक-पृथक सुधारों के बावजूद तब तक सदैव उजरती दास बने रहेंगे, जब तक पूंजी का प्रभुत्व विद्यमान है।

उदारतावादी बुर्जुआ एक हाथ से सुधार देते हैं और दूसरे हाथ से सदैव उन्हें छीन लेते हैं, उन्हें समेटकर शून्य बना डालते हैं, मजदूरों को दास बनाने के लिए, उन्हें पृथक-पृथक ग्रुपों में विभक्त करने के लिए, मेहनतकशों की उजरती दासता बनाये रखने के लिए उनका इस्तेमाल करते हैं। इस कारण सुधारवाद, उस समय भी, जब वह पूर्णतः निष्कपट होता है, व्यवहार में मजदूरों को भ्रष्ट और कमजोर बनाने का बुर्जुआ हथियार बन जाता है। समस्त देशों का अनुभव बताता है कि सुधारवादियों पर विश्वास करने वाले मजदूर सदैव बेवकूफ बन जाते हैं।

इसके विपरीत, यदि मजूदर मार्क्स के सिद्धान्त को आत्मसात कर लेते हैं, यानी वे पूंजी के प्रभुत्व के बने रहते उजरती दासता की अपरिहार्यता को अनुभव कर लेते हैं, तो वे किसी भी बुर्जुआ सुधारों से अपने को बेवकूफ नहीं बनने देंगे। यह समझकर कि पूंजीवाद के बने रहते सुधार न तो स्थायी और न महत्वपूर्ण हो सकते हैं, मजदूर बेहतर परिस्थितियों के लिए लड़ते हैं तथा उजरती दासता के विरुद्ध और डटकर संघर्ष जारी रखने के लिए बेहतर परिस्थितियों का उपयोग करते हैं। सुधारवादी छोटी-मोटी रियायतों से मजदूरों में फूट डालने, उनकी आंखों में धूल झोंकने, वर्ग संघर्ष की ओर से उनका ध्यान हटाने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु मजदूर सुधारवाद की मिथ्यावादिता को अनुभव कर चुकने के कारण अपने वर्ग संघर्ष का विकास तथा विस्तार करने के लिए सुधारों का उपयोग करते हैं।

सुधारवादियों का मजदूरों पर प्रभाव जितना अधिक सशक्त होता है, मजदूर उतने ही निर्बल होते हैं, बुर्जुआ वर्ग पर उनकी निर्भरता उतनी ही ज्यादा होती है, तरह-तरह के दांव-पेंचों से इन सुधारों को शून्य में परिणत कर देना बुर्जुआ वर्ग के लिए उतना आसान होता है। मजदूर आन्दोलन जितना अधिक स्वावलंबी तथा गहन होता है, उसके ध्येय जितने अधिक विस्तृत होते हैं, सुधारवादी संकीर्णता से वह जितना अधिक मुक्त होता है, मजदूरों के लिए अलग-अलग सुधारों को सुदृढ़ बनाना तथा उनका उपयोग करना उतना ही आसान होता है।

सुधारवादी समस्त देशों में हैं, इसलिए कि बुर्जुआ वर्ग सर्वत्र मजदूरों को इस या उस तरह भ्रष्ट करने, उन्हें ऐसे सन्तुष्ट दास बनाने का प्रयास करता है, जो दासता को मिटाने का विचार त्याग देते हैं। रूस में सुधारवादी विसर्जनवादी हैं, जो हमारे अतीत को ठुकराते हैं, ताकि मजदूरों को नयी, खुली, कानूनी पार्टी के बारे में मीठी-मीठी लोरियां सुनाकर सुलाया जाये। हाल में 'सेवेरनाया प्राव्दा'[1] ने सेंट पीटर्सबर्ग के विसर्जनवादियों को सुधारवाद के आरोप से अपना बचाव करने के लिए विवश किया था। उनकी दलीलों का ध्यानपूर्वक विश्लेषण किया जाना चाहिए, ताकि एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न का स्पष्टीकरण किया जा सके।

हम सुधारवादी नहीं हैं—सेंट पीटर्सबर्ग के विसर्जनवादियों ने लिखा—क्योंकि हमने यह नहीं कहा कि सुधार ही सब कुछ हैं, अन्तिम लक्ष्य कुछ नहीं; हमने अन्तिम लक्ष्य की ओर बढ़ने की बात कही थी; हमने तो सुधारों के लिए संघर्ष के जरिये निर्धारित लक्ष्यों की पूर्ति की ओर बढ़ने की बात कही थी।

देखें कि यह बचाव तथ्यों से कैसे मेल खाता है।

पहला तथ्य। विसर्जनवादी सेदोव ने तमाम विसर्जनवादियों के बयानों का सार देते हुए लिखा था कि मार्क्सवादियों

(पेज 10 पर जारी)

समाजवादी परियोजनाओं को पुनर्जीवन

• आलोक रंजन

कम्युनिस्ट घोषणापत्र के 1890 के जर्मन संस्करण की भूमिका में **एंगेल्स** ने लिखा था कि इस महान रचना की बुनियादी प्रस्थापना **मार्क्स** की है और वह यह है **''कि प्रत्येक ऐतिहासिक युग का आर्थिक उत्पादन तथा विनिमय का प्रचलित ढंग तथा उससे अनिवार्यतः उत्पन्न होने वाली सामाजिक संरचना उस आधार का निर्माण करती है जिसपर उस युग के राजनीतिक तथा बौद्धिक इतिहास का निर्माण होता है और जिसके बल पर ही उसपर प्रकाश डाला जा सकता है; कि इसके परिणामस्वरूप मानव जाति का पूरा इतिहास (आदिम कबायली समाज के, जिसमें भूमि पर सबका स्वामित्व होता था, विघटन से लेकर) वर्ग संघर्षों, शोषकों तथा शोषितों, शासकों तथा शासितों के बीच संघर्षों का इतिहास रहा है; कि इन वर्ग संघर्षों का इतिहास अपने विकास-क्रम की एक ऐसी मंजिल में पहुंच चुका है जहां शोषित तथा उत्पीड़ित वर्ग—सर्वहारा वर्ग—पूरे समाज को शोषण, उत्पीड़न, वर्ग-विभेदों तथा वर्ग-संघर्षों से सदा-सर्वदा के लिए मुक्त किये बिना उत्पीड़न तथा शोषण करने वाले वर्ग—पूंजीपति वर्ग के जूवे से अपने को मुक्त नहीं कर सकता।''**

हैबरमास का यह विचार सोलहों आने सही है कि *घोषणा पत्र* **''उन्नीसवीं शताब्दी की स्वप्नदर्शी ऊर्जाओं की उपज''** था और साथ ही इसने उन्हें उन्मुक्त भी किया।

मार्क्स और एंगेल्स के जीवन-काल में ही यूरोप में जारी तीखे वर्ग-संघर्षों ने, महान पेरिस कम्यून ने और फिर (मार्क्स की मृत्यु के बाद) ऐतिहासिक मई दिवस की जन्मदात्री शिकागो की घटनाओं ने घोषणा पत्र के भव्य सिद्धान्तों को सत्यापित कर दिया। यूरोप क्रान्तियों के तूफान का केन्द्र बना रहा जहां सर्वहारा के मानव-मुक्ति के सपने समाजवादी परियोजनाओं के रूप में पलते-ढलते रहे।

उन्नीसवीं सदी में ये समाजवादी परियोजनाएं यूरोपीय भूमि पर ठोस अमली रूप नहीं ले पाईं। एंगेल्स ने ही इस बात को नोट किया कि एकाधिकारी पूंजी के विकास और वित्तीय पूंजी की नयी वर्चस्वशाली भूमिका के साथ ही क्रान्तियों के तूफान का केन्द्र विकसित पश्चिम से पिछड़े पूरब की ओर खिसक रहा है।

घोषणापत्र में यूरोप के बुर्जुआ समाज और उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का द्वंद्वात्मक भौतिकवादी विश्लेषण किया गया था और पहली बार वर्ग-संघर्ष को इतिहास की कुंजीभूत कड़ी बताते हुए पूंजीवाद के विरुद्ध सर्वहारा क्रान्ति की अवश्यम्भाविता पर बल दिया गया था तथा एक समाजवादी परियोजना की रूपरेखा पेश की गई थी। इन अर्थों में आज भी घोषणापत्र शत-प्रतिशत प्रासंगिक है। यह समूचे विश्व सर्वहारा का घोषणापत्र है, जो उसे उसके ऐतिहासिक मिशन की याद दिलाता है।

पर यूरोपीय सर्वहारा क्रान्ति के बारे में घोषणापत्र की भविष्यवाणी सही साबित नहीं हुई। इसके क्या कारण थे?—वस्तुतः इन कारणों को घोषणापत्र के प्रकाशन के बाद से लेकर उन्नीसवीं सदी के अंत तक के मार्क्स-एंगेल्स के चिन्तन के विकास-क्रम से और फिर मार्क्सवाद के सिद्धान्तों में लेनिन द्वारा किये गये विकास से समझा जा सकता है।

घोषणापत्र में इन बातों की चर्चा तो की गई है कि (i) उपनिवेशों की लूट से यूरोप में उद्योग और वाणिज्य को अभूतपूर्व गति मिली तथा (ii) निरंतर विस्तारमान बाजार की जरूरत के चलते बुर्जुआ वर्ग ने विश्व बाजार का और ''अपने ही सांचे में ढली दुनिया'' का निर्माण किया। लेकिन इस उल्लेख के बावजूद, घोषणापत्र में मूलतः (यूरोपीय) बुर्जुआ समाज को अन्तरराष्ट्रीय अर्थव्यवस्था से और एशिया-अफ्रीका-लातिन अमेरिका के उपनिवेशों से विलग, 'वर्ग-संघर्ष की एक स्वतंत्र-स्वायत्त रंगभूमि' के रूप में देखा गया है। अपनी उत्तरवर्ती रचनाओं में मार्क्स और एंगेल्स ने अधिक संतुलित ढंग से यूरोपीय पूंजीवाद के विकास में औपनिवेशिक दोहन और लूट की भूमिका की विवेचना की। मार्क्स ने भारत में उपनिवेशवाद की भूमिका और रूस के पिछड़े कृषि-प्रधान समाज के बारे में 1850 के दशक से लेकर अपने अंतिम पत्रों तक में लिखा। एंगेल्स ने इजारेदार पूंजी के विश्वव्यापी विस्तार और पूंजी के निर्यात की नई प्रवृत्तियों पर गौर किया और यह भी लिखा कि इंग्लैण्ड पूरी दुनिया को लूटकर अपने देश के सर्वहारा को घूस दे रहा है और ''अंग्रेज सर्वहारा अधिकाधिक बुर्जुआ बनता जा रहा है।''

घोषणापत्र के प्रकाशन के आधी सदी बाद, **लेनिन** ने पूंजीवाद के उन बदलावों की व्याख्या की जिनके चलते यूरोपीय सर्वहारा क्रान्ति के बारे में घोषणा पत्र की भविष्यवाणी गलत सिद्ध हुई थी। लेनिन ने स्पष्ट किया कि बीसवीं सदी में उत्पादन और पूंजी का संकेन्द्रण इस हद तक विकसित हो चुका है कि विश्व स्तर पर आर्थिक जीवन पर एकाधिकारी संगठनों का आधिपत्य हो गया है। यह पूंजीवाद की चरम अवस्था—साम्राज्यवाद का युग है जिसमें एकाधिकारी संगठन विश्व स्तर पर उच्च एकाधिकारी लाभों को निचोड़ने की गारण्टी प्रदान करते हैं और एकाधिकारी घरानों के बीच तथा साम्राज्यवादी देशों के बीच की होड़ उग्र होती चली जाती है। बैंकिंग पूंजी और औद्योगिक पूंजी के विलय से वित्तीय पूंजी का निर्माण होता है जो एक सर्वशक्तिमान एकाधिकारी के रूप में राजनीति और पूरे सामाजिक ढांचे को नियंत्रित करने लगती है। पूंजी का निर्यात विभिन्न देशों की जनता के शोषण-उत्पीड़न का साम्राज्यवादी उपकरण बन जाता है और वित्तीय पूंजी के विश्व-प्रभुत्व को जन्म देता है।

लेनिन ने स्पष्ट किया कि अंतरराष्ट्रीय एकाधिकारी गुटों ने पूरी दुनिया का आर्थिक रूप से बंटवारा कर लिया है और उसके फिर से बंटवारे के लिए होड़ लगातार जारी है जो अपरिहार्यतः युद्धों को जन्म देती है। **स्तालिन** के शब्दों में, **''लेनिन ने साम्राज्यवाद को मरणासन्न पूंजीवाद कहा। क्यों? इसलिए कि साम्राज्यवाद में पूंजीवाद के जो अन्तरविरोध निहित हैं वे उसके लिए अन्तकारी ही हैं। मतलब क्रान्ति की शुरुआत होनी ही है।''** साम्राज्यवाद के दौर में उत्पादन और तकनोलाजी का विकास सापेक्षतः ठहरावग्रस्त हो जाता है। राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं का सैन्यीकरण सामाजिक उत्पादन की शक्ति को भीतर से खोखला कर देता है। बुर्जुआ वर्ग ज्यादा से ज्यादा सूदखोरी पर जिन्दा रहने वाला वर्ग बनता चला जाता है। लेनिन ने यह आकलन प्रस्तुत किया कि साम्राज्यवादी युग में महाशक्तियों के अन्तरविरोधों के चलते महायुद्धों की सम्भावनाएं बनी रहेंगी और यह कि, विश्व पूंजीवादी तंत्र के आंतरिक अन्तरविरोधों के दबाव के चलते इसकी कमजोर कड़ियां ही पहले टूटेंगी तथा पिछड़े, उत्पीड़ित देशों में क्रान्तियां होंगी।

लेनिन के ये आकलन प्रथम महायुद्ध (1914-19) और 1917 की सोवियत क्रान्ति के रूप में, उनके जीवन-काल में ही सत्यापित हो गये। समाजवादी परियोजना पहली बार धरती पर क्रियान्वित हुई। दूसरे महायुद्ध के बाद पूर्वी यूरोप पर भी सर्वहारा राज्य स्थापित हुए और चीन की नई जनवादी क्रान्ति ने उपनिवेशों-नवउपनिवेशों-अर्द्धउपनिवेशों में क्रान्ति का नया मार्ग आलोकित किया। साम्राज्यवाद को विश्वव्यापी वर्ग संघर्षों के दबाव में पीछे हटना पड़ा। उपनिवेशवादी-नवउपनिवेशवादी प्रभुत्व का मुख्यतः अंत तो हो गया, पर तीसरी दुनिया के अधिकांश देशों में सत्ता जिस देशी पूंजीपति वर्ग के हाथ में आई, उसकी कमजोरियों-मजबूरियों का लाभ उठाकर तथा उसकी मुनाफाखोर हवस को तुष्ट करने का लालच देकर साम्राज्यवादियों ने उसे अपने लूटतंत्र का जूनियर पार्टनर बना लिया।

उधर सोवियत संघ में समाजवादी परियोजना के निर्माण को तब भारी धक्का लगा, जब स्तालिन की मृत्यु के बाद वहां खुश्चोव जैसे विभीषण की अगुवाई में फिर से एक नई बुर्जुआ सत्ता कायम हुई। इस उलटाव का एक अहम मुकाम 1990 में आया जब सोवियत संघ का विघटन हो गया। ख्रुश्चोवी विश्वासघात के बावजूद, ''19वीं शताब्दी की स्वप्नदर्शी ऊर्जाएं'' 1970 के दशक के मध्य तक, यानी उससमय तक विश्व में वेगवान बनी रहीं, जबतक (1976 तक) चीन में माओ के नेतृत्व में सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति का प्रयोग जारी रहा। देङ गिरोह के नेतृत्व में वहां भी पूंजीवादी पुनर्स्थापना के बाद समाजवादी परियोजना विश्व-स्तर पर अस्त-व्यस्त हो गई।

लेकिन क्या समाजवादी परियोजना को पुनर्जीवित करना अब सम्भव नहीं है? क्या उन्नीसवीं शताब्दी की स्वप्नदर्शी ऊर्जाएं निश्शेष हो चुकी हैं? क्या श्रम की मुक्ति के स्वप्नों की मृत्यु हो चुकी है?ख्रऐसा नहीं है। ऐसा माना जा सकता था, बशर्ते कि पूंजीवाद ने अपनी अपरिहार्य समस्याओं का हल ढूंढ़ लिया होता। पर स्थिति ठीक उल्टी है। इतिहास की सबसे लम्बी मन्दी और ठहराव का दौर जारी है। दुनिया में बेरोजगारी इतनी अधिक कभी नहीं रही। स्वयं यूरोप बेरोजगारी की दो अंकों की दर से ग्रस्त है। पूर्व सोवियत संघ के घटक देशों और पूर्वी यूरोप के देशों में पश्चिमी पूंजीवादी पद्धति अपनाने के बाद जो असाधारण आर्थिक गिरावट हुई है, वैसी शांति के दिनों में पहले कभी भी नहीं देखी गई। तथाकथित ''एशियाई शेरों'' की आर्थिक उन्नति का मिथक चकनाचूर हो चुका है। आर्थिक-सामाजिक संकट और पूंजीवादी राजनीति की चरम पतनशीलता ने एशिया-अफ्रीका-लातिन अमेरिका के विशाल भूभाग में, जनता के गहराते आक्रोश को विस्फोट की दिशा में अग्रसर करना शुरू कर दिया है।

उदारीकरण-निजीकरण के विश्वव्यापी कुचक्र में देशी-विदेशी पूंजी अतिलाभ निचोड़ती हुई, भारी मेहनतकश आबादी को सड़कों पर ढकेल रही है और गगनचुम्बी अट्टालिकाओं की तलहटी में नर्क का जीवन बिताते लोग यह समझने लगे हैं कि पूंजीवादी रास्ते पर चलते हुए मानवता सिर्फ विनाश तक ही पहुंच सकती है। इसलिए तय है कि मानवता को पूंजीवाद का ही विनाश करना होगा। इतिहास के इस हुक्म की तामील करने के लिए अगली सदी में सर्वहारा वर्ग फिर अपना कदम आगे बढ़ायेगा—इसके संकेत दुनिया के अलग-अलग कोनों से हो रहे विस्फोटों से भी मिल रहे हैं और सर्वहारा वर्ग की हिरावल पांतों के बीच वैचारिक नवजागरण और प्रबोधन की नई शुरुआत से भी। सर्वहारा क्रान्ति के नये संस्करण के जन्म की संभावना महज अटकलबाजी नहीं है।

समाजवादी परियोजना का पुनर्जीवन तो अवश्यंभावी है। प्रश्न सिर्फ यह है कि कब? समाजवादी क्रान्तियों के प्रथम संस्करण विफल हुए हैं। भूलना नहीं होगा कि सामंतवाद पर अंतिम विजय हासिल करने में पूंजीवाद को भी तीन सौ साल लगे थे। यह भी नहीं भूलना होगा कि चीन की **सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति** तक यह समझ विश्व सर्वहारा को हासिल हो चुकी थी कि समाजवादी समाज में नये-पुराने बुर्जुआ वर्गों की ओर से खतरा कितने रूपों में बना रहता है और उनके विरुद्ध सतत वर्ग-संघर्ष चलाते हुए कम्युनिज्म की दिशा में आगे बढ़ने की दिशा क्या होगी।

नई समाजवादी परियोजना के भ्रूण स्वयं समकालीन विश्व पूंजीवाद के अस्तित्व के भीतर मौजूद हैं। हां, इतना जरूर है कि नई समाजवादी परियोजना के अमल का रास्ता और स्वरूप पहले से भिन्न होगा। अतीत की क्रान्तियों से सबक मिलते हैं, पर उनकी अनुकृति नहीं होती। इतिहास दुहराया नहीं जाता।

सर्वहारा वर्ग को आज के दौर की नई समाजवादी क्रान्ति की रणनीति और आम रणकौशल का निर्धारण करना है। भारत जैसे देश मार्ग-निर्धारक नई क्रान्तियों की प्रयोगभूमि हैं। यहां भी सर्वहारा क्रान्तिकारियों की नई पीढ़ी आगे आ रही है और अतीत के प्रयोगों की सफलताओं-असफलताओं का सार-संकलन करती हुई भावी क्रान्ति की पूर्वपीठिका तैयार कर रही है।

•

जनता की सही आजादी के लिए संघर्ष की नई तैयारियों में जुट जाओ!

(पेज 1 से आगे)

संविधान में किये गये लंबे-चौड़े वायदे महज फरेब साबित हुए। बाजार के विकास के लिए खेती-बाड़ी का पूंजीवादी विकास जरूरी था, सो हुआ मगर लम्बी प्रक्रिया में और धीरे-धीरे, इसतरह कि सामन्ती भूस्वामी ही पूंजीवादी भूस्वामी बन गये, पहले के धनी काश्तकार किसान कुलक-फार्मर बन गये तथा इन सबके साथ नई खेती और कृषि आधारित एवं सहायक उद्योगों में नये-नये धनिकों ने भी खूब पूंजी लगाई। हरित क्रान्ति, सफेद क्रान्ति, नीली-पीली क्रान्ति—सबने गांवों में पूंजी निवेश को बढ़ावा दिया। जो पहले के भूमिहीन और गरीब किसान थे, वे उजरती मजदूर बन गये तथा कम पूंजी वाले मध्यम किसानों का बड़ा हिस्सा भी कंगाल होकर इनकी कतारों में शामिल होता चला गया। इन सर्वहाराओं-अर्द्ध सर्वहाराओं की एक छोटी आबादी ही गांवों में खप पाई। बाकी को भागकर शहरों में आना पड़ा और दिहाड़ी पर, ठेके पर या किसी कारखाने में अस्थायी-स्थायी मजदूरी के काम में लगना पड़ा। लेकिन धीरे-धीरे ऐसी भारी आबादी के लिए रोजगार मिलना दूभर होता गया और आज इस स्थिति का लाभ उठाकर पूंजीपति ज्यादातर कारखानों में ठेका मजदूर से 14-14, 18-18 घण्टे काम लेने लगे हैं।

शुरू में उद्योगों के विकास के लिए पूंजीपतियों के पास रकम की कमी थी। तब, नेहरू काल में, समाजवादी मुखौटा लगाकर ज्यादातर बड़े और बुनियादी ढांचागत उद्योग 'पब्लिक सेक्टर' में खड़े किये गये जनता की गाढ़ी कमाई से। आम जनता की बचत से पूंजीपतियों को पूंजी मुहैया कराने के लिए बीमा क्षेत्र भी सरकारी रहा और बैंकों का भी राष्ट्रीकरण किया गया। और जब देशी पूंजीपतियों ने पूंजी का अम्बार इकट्ठा कर लिया तो उन्हें उसका निवेश करके और अधिक पूंजी इकट्ठा करने के लिए निजीकरण की मुहिम चला दी गई। निजीकरण-उदारीकरण की जो मुहिम पिछले नौ वर्षों से चल रही है, उसका एक महत्वपूर्ण कारण यह भी है कि विदेशी पूंजी के लिए राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के दरवाजों को पूरी तरह खोल देना देशी पूंजी की मजबूरी थी। और अधिक पूंजी और तकनोलाजी के लिए तथा विश्व-बाजार में अपना माल बेच पाने के लिए भारत जैसे देशों के पूंजीपतियों के सामने एकमात्र रास्ता अब यही बचा था कि वे नई आर्थिक नीतियां अपनायें। इसलिए भारतीय पूंजीपति वर्ग को साम्राज्यवादी दबाव के आगे झुकना ही था।

यह तय है कि पुराने उपनिवेशवाद की वापसी तो अब नहीं होगी क्योंकि जनता इसे बर्दाश्त नहीं कर सकती, लेकिन आर्थिक नवउपनिवेशवाद के इस नये दौर में शोषण और लूट अंग्रेजों के जमाने से कम नहीं बल्कि अधिक ही हो रही है। जनता अपनी पीठ पर साम्राज्यवाद और पूंजीवाद—इन दो पहाड़ों का बोझ ढो रही है।

●

आजादी की बीती हुई आधी सदी की मुख्तसर सी कहानी महज आंकड़ों की जुबानी भी बहुत कुछ कह देती है।

इस दौरान ऊपर के करीब सौ बड़े पूंजीपति घरानों की पूंजी में दो गुने-चौगुने की नहीं, बल्कि दो सौ गुने से चार सौ गुने तक की वृद्धि हो गई है। अम्बानी परिवार का उदाहरण तो और भी निराला है जिसके पास सत्तर के दशक में मात्र 10 करोड़ रुपये की पूंजी थी। आज उसके पास करीब पौने दो खरब रुपये की (1,75,000 करोड़ रुपये) की पूंजी है। यानी, बीस वर्षों में 17,500 गुने की बढ़ोत्तरी। दूसरी ओर, रुपये की गिरती कीमतों के मद्देनजर, आम मजदूरों-किसानों और सामान्य नौकरीपेशा लोगों की आमदनी में बढ़ोत्तरी नहीं के बराबर।

दुनिया के गरीब देशों में रात को भूखे सोने वालों की आबादी करीब 80 करोड़ है और इसमें से करीब एक तिहाई आबादी अकेले भारत में रहती है। एक अन्तरराष्ट्रीय भूख परियोजना संगठन के अनुसार, हमारे देश में आधे भूखे लोगों की संख्या कुल आबादी की एक तिहाई है जो कि पूरी दुनिया में सबसे अधिक है।

विश्व बैंक की रिपोर्ट के अनुसार, नई आर्थिक नीतियों से विकास के तमाम दावों के बावजूद गरीबी रेखा के नीचे जीने वालों की संख्या 1997 के अंत तक बढ़कर 34 करोड़ तक पहुंच चुकी थी जो कि 1990 के आसपास तक 30 करोड़ थी। गौरतलब है कि दुनिया में गरीबों की कुल आबादी एक अरब बीस करोड़ है और इनमें से 30 फीसदी अकेले भारत में रहते हैं। 1990 में गांव के गरीबों की संख्या 22 करोड़ 40 लाख थी जो 1997 के अंत में बढ़कर 25 करोड़ तक जा पहुंची। इस अवधि के दौरान शहरी गरीबों की संख्या 7 करोड़ 30 लाख बनी रही।

देश की कुल सर्वहारा-अर्द्धसर्वहारा आबादी में आज आजादी की आधी सदी के बाद भी 20 करोड़ मजदूर असंगठित हैं, जिन्हें तमाम घोषणाओं के बावजूद न्यूनतम मजदूरी, काम के घण्टों या रोजगार की सुरक्षा या अन्य सुविधाओं के मामलों में श्रम कानूनों से कोई भी संरक्षण प्राप्त नहीं है। उत्पादन के क्षेत्र में कुल 2 करोड़ 89 लाख मजदूर काम कर रहे हैं, जिनमें से 73 लाख या सिर्फ 25 फीसदी ही संगठित हैं। व्यापार और वाणिज्य में कुल श्रम शक्ति का 98 फीसदी और कृषि में लगी 16 करोड़ की श्रम शक्ति में से 99.2 फीसदी असंगठित हैं।

छठी ग्रामीण श्रमिक जांच रिपोर्ट (1993-94) के अनुसार, कृषि क्षेत्र के मुख्य श्रमिक की दैनिक औसत आय 1963-65 में 1 रु. 43 पैसे थी जो 1993-94 में बढ़कर 21 रु. 35 पैसे हो गई। पर यह बढ़ोत्तरी महज सांख्यिकीय है। कृषि मूल्य सूचकांकों के हिसाब से 1963 से 1993 के बीच के 30 वर्षों में कृषि श्रमिक की औसत आय में महज 10 पैसे की वृद्धि हुई है। 1963 में यह 1 रु. 80 पैसे थी जो 1993 में बढ़कर 1 रु. 90 पैसे हो गई।

अर्द्ध बेरोजगारी और छुपी हुई बेरोजगारी को छोड़ भी दिया जाये तो देश में बेरोजगारों की संख्या 20 करोड़ से ऊपर जा पहुंची है। नई आर्थिक नीति लागू होने के बाद से देश में करीब सवा दो लाख छोटे-बड़े उद्योग बन्द हो चुके हैं और करीब ढाई करोड़ मजदूरों के रोजगार छिन चुके हैं। बड़े उद्योगों और नये स्थापित हो रहे आधुनिक उद्योगों में ज्यादातर काम ठेका मजदूरों से या दिहाड़ी मजदूरों से लिया जा रहा है और सरकार धीरे-धीरे उन सभी कानूनी अधिकारों को श्रमिकों से छीनती जा रही है जो उन्होंने दशकों के संघर्षों के दौरान लड़कर हासिल किये थे।

सस्ती और सर्वसुलभ शिक्षा के वायदों को लम्बे समय तक टालने के बाद पूरीतरह ताक पर रख दिया गया। प्राथमिक शिक्षा से लेकर उच्च शिक्षा और मेडिकल-इंजीनियरिंग तक की फीसों में दस गुने से लेकर सौ-सौ गुने तक की एकमुश्त बढ़ोत्तरी कर दी गई। व्यावसायिक शिक्षा व उच्चा शिक्षा का निजीकरण लगातार जारी है।

आजादी के पचास वर्षों में, सामन्ती जकड़बन्दी को तोड़कर बाहर आने वाली स्त्रियों से लेकर घरेलू औरतों तक पर अत्याचार के आंकड़े लगातार बढ़ते गये हैं। समता और न्याय के सारे कानून किताबों में धरे रह गये हैं। निजी क्षेत्र में काम करने वाली मध्यवर्गीय स्त्रियों और उद्योगों एवं कृषि में काम करने वाली (ज्यादातर असंगठित) स्त्री श्रमिकों को पुरुषों से कम मजदूरी दी जाती है। भारत में देह व्यापार में सालाना 40,000 करोड़ रुपये का लेन-देन होता है। और इसमें लगभग 9 लाख बेबस औरतें लगी हैं। देह-व्यापार में लगी बालिकाओं की तादाद 2 लाख 70 हजार से अधिक है।

1947 में आजादी मिलने के समय ब्रिटेन पर भारत की कुछ करोड़ रुपये की देनदारी थी। अब, आधी सदी की आजादी के बाद भारत पर लगभग 48 खरब रुपये का विदेशी कर्ज लदा हुआ है। वित्तमंत्री द्वारा राज्यसभा को दी गई सूचना के अनुसार, मार्च '98 के अंत में सरकार का आंतरिक ऋण और अन्य देयताएं 71 खरब 82 अरब 99 करोड़ रुपये थी और इनपर सालाना ब्याज 6 खरब, 15 अरब, 50 करोड़ रुपये देने पड़ते थे। आज स्थिति यह है कि सरकार की पूरी आमदनी कर्जों के किश्तों व सूद के भुगतान, वेतन-भत्तों के भुगतान तथा बाहरी व भीतरी सुरक्षा पर खर्च हो जाती है। अत: गरीबी उन्मूलन, शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार के अवसर बढ़ाने आदि के मदों में लगातार कटौती के बावजूद विदेशी और घरेलू कर्ज लगातार बढ़ते जा रहे हैं। विगत नौ वर्षों के दौरान सभी सरकारों के वित्तमंत्री वित्तीय घाटे के संकट से निपटने के लिए "वित्तीय अनुशासन" पर जोर देते रहे हैं तथा राजकोषीय घाटे को कम करने पर सभी की आम सहमति रही है। इसका स्पष्ट मतलब है शिक्षा, स्वास्थ्य आदि बुनियादी मदों में और अधिक कटौती। अभी विगत 28 जुलाई को भारतीय पूंजीपतियों की संस्था 'एसोचैम' द्वारा आयोजित एक संगोष्ठी में वित्तमंत्री यशवंश सिन्हा ने बताया कि सरकार के राजस्व का कुल 40 प्रतिशत हिस्सा सिर्फ कर्जों का ब्याज चुकाने में खर्च हो रहा है।

●

आजादी के बाद की आधी सदी के दौरान पूंजीवादी जनवादी राजनीति की नैतिकता व आदर्श के सारे मुलम्मे उतर चुके हैं। भला यह कौन नहीं जानता कि चुनाव लड़ने वाली पार्टियों को सभी पूंजीपति घरानों से पैसे मिलते हैं। छुटभैये अपनी जरूरतें व्यापारियों-ठेकेदारों से पूरी करते हैं। आम आदमी सिर्फ ठप्पा मारकर नागनाथ-सांपनाथ में से किसी एक को चुनने का काम करता है। असली फैसला पूंजीपतियों के सभाकक्षों में हुआ करता है। तेलंगाना की पराजय के बाद से अबतक लाल झण्डे उड़ाते हुए चुनावी राजनीति करने वाले नकली वामपंथियों की यह असलियत भी एकदम उजागर हो चुकी है कि ये मेहनतकशों की रहनुमाई नहीं बल्कि रहजनी कर रहे हैं और पूंजीवादी व्यवस्था की ही दूसरी सुरक्षा-पंक्ति मात्र हैं।

यह पूंजीवादी जनवाद के चरम पतन का ही नतीजा है कि साम्प्रदायिक फासिस्ट ताकतें आज संसदीय राजनीति के रंगमंच पर मुख्य भूमिका निभाने लगी हैं। पूरे देश में इन्होंने साम्प्रदायिक तनाव और खूरेजी का बवण्डर खड़ा कर दिया है।

यह पूंजीवादी जनवाद के चरम पतन का ही नतीजा है कि जिन गुण्डों-माफिया सरदारों को सभी पार्टियों के नेता पहले इस्तेमाल करते थे, वे अब खुद ही सांसद, विधायक और मंत्री बनकर संसद-विधानसभाओं में विराजमान हैं।

आजाद भारत के तथाकथित जनतांत्रिक संविधान में ही वे सारे प्राविधान मौजूद हैं कि पूरे देश की जनता पर 1975-77 की आपातस्थिति जैसा आतंकराज्य, जरूरत पड़ने पर कभी भी कायम किया जा सकता है। देश में आज भी अंग्रेजों के जमाने की ही कानून व्यवस्था—वही आई.पी.सी. और सी.आर.पी.सी. मौजूद है, वही जेल मैनुअल है, वही पुलिस व्यवस्था है, जिन सबके होते हुए संविधान-प्रदत्त सीमित जनवादी अधिकार भी बेमानी होकर रह जाते हैं। इन सबके बाद, पचास वर्षों के दौरान अनगिनत ऐसे काले कानून बनाये गये हैं, जो आम नागरिक को, उसकी मूलभूत आजादी और जीने के अधिकार तक से वंचित करते हैं।

दो सौ वर्षों के शासन के दौरान अंग्रेजों ने जितने लोगों को मौत के घाट उतारा था, पिछले 52 वर्षों के दौरान उससे अधिक लोगों के खून से देशी हुकूमत ने धरती को रंगा है।

जाहिरा तौर पर, 1947 में देश को जो अधूरी और विकलांग राजनीतिक आजादी मिली, उसका यही हश्र होना था। जनता के बहादुराना संघर्षों की बदौलत उपनिवेशवाद का दौर तो समाप्त हुआ, लेकिन मजदूरों-किसानों का वास्तविक प्रतिनिधित्व करने वाली वामपंथी शक्तियों की कमजोरियों-गलतियों के कारण राष्ट्रीय आंदोलन की मुख्य धारा के नेतृत्व पर काबिज, पूंजीपतियों की पार्टी कांग्रेस ने सत्ता संभाली। अपने चरित्र के हिसाब से इस पूंजीवादी हुकूमत को जो करना था, उसने वही किया। अब इस देश की मेहनतकश जनता को वह करना होगा, जो उसे करना चाहिए।

●

आज से लगभग सत्तर वर्षों पहले ही शहीदे-आजम भगत सिंह ने कहा था कि कांग्रेस उन देशी पूंजीपतियों की पार्टी है, जो साम्राज्यवादियों से सौदेबाजी करके अपने लिए सत्ता हासिल करना चाहते हैं। समय ने भगतसिंह के मूल्यांकन को सही साबित किया। भगतसिंह साम्राज्यवाद को उखाड़कर सर्वहारा अधिनायकत्व के अंतर्गत मजदूर-किसान राज्य की स्थापना को वास्तविक आजादी के रूप में देखा था।

आज पीछे मुड़कर देखने पर लगता है कि 1946 से लेकर 1950 तक का दौर ऐसा था जब इसतरह की आजादी की लड़ाई भी शिखर पर थी। 1946 में ब्रिटिश नौसेना के भारतीय नौसैनिकों ने जब बम्बई में विद्रोह का झण्डा लहरा दिया तो पूरी बम्बई के मजदूर उनके समर्थन में सड़कों पर उतर आये और उनके खून से बंबई की धरती रंग गई। क्या इस बात को कभी भूला जा सकता है कि कांग्रेस और मुस्लिम लीग—दोनों के नेताओं ने नौसैनिकों के विद्रोह का विरोध किया था?

नौसेना विद्रोह से छिटकी चिंगारियां थलसेना और वायुसेना के जवानों तक भी पहुंचने लगी थीं और वहां सुलगते आक्रोश से ब्रिटिश शासक घबरा उठे थे।

यही वह समय था जब पूरे दृश में मजदूरों की राजनीतिक हड़तालों का सिलसिला जारी था।

उधर तेभागा, तेलंगाना और पुनप्रा वायलार में क्रान्तिकारी किसान संघर्ष के आगे बढ़ते कदम पूरे देश के किसानों को सामन्तवाद-विरोधी भूमिक्रान्ति का नया सन्देश दे रहे थे।

इसी उथल-पुथल के दौरान 1947 में अंग्रेजों ने साजिशाने ढंग से भारत को विभाजित करके यहां के पूंजीपतियों को सत्ता की बागडोर सौंप दी। देशी पूंजीपतियों की हुकूमत 1947 से 1950 के बीच अभी स्थिर नहीं हो पाई थी, पर इस अनुकूल स्थिति का लाभ उठाकर राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति सम्पन्न नहीं की जा सकी। इसका बुनियादी कारण मजदूर वर्ग की पार्टी—तत्कालीन अविभाजित कम्युनिस्ट पार्टी की कमजोरियां-गलतियां और उसके नेतृत्व के एक हिस्से का दुलमुलपन तथा दूसरे हिस्से की गद्दारी थी।

जनक्रान्ति का सुनहरा अवसर हाथ से जाता रहा। जनता की सच्ची आजादी हासिल नहीं की जा सकी। भूलना नहीं होगा कि तेलंगाना के किसान संघर्ष को "समाजवादी" नेहरू व पटेल के निर्देश पर आजाद भारत की फौज ने कुचला था। तेलंगाना की पराजय के बाद यहां की कम्युनिस्ट पार्टी पूरी तरह से चुनावी, सुधारवादी, अर्थवादी पार्टी बन चुकी थी। 1964 में बनी मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के तेवर तो जुझारू थे, पर यह भी अपने जन्म से ही संसदमार्गी, संशोधनवादी पार्टी थी।

नक्सलबाड़ी के क्रान्तिकारी जनउभार ने 1967 में एक बार फिर क्रान्तिकारी सम्भावनाओं के द्वार खोले, पर जिस नये नेतृत्व को नई राजनीतिक लाइन के आधार पर जनक्रान्ति की नेतृत्वकारी सर्वहारा पार्टी का गठन करना था, वह विचारधारात्मक स्तर पर "वामपंथी" बचकानेपन का शिकार हो गया। इसी कमजोरी के चलते भारतीय क्रान्ति का सही कार्यक्रम नहीं तय किया जा सका। किसानों-मजदूरों के जनसंगठन और संयुक्त मोर्चे बनाने की जगह आनन-फानन में छापामार युद्ध छेड़ देने की भारी गलती की गई।

अब पिछले तीस वर्षों के ठहराव के बाद, पूरी दुनिया और अपने देश की परिस्थितियों में आये महत्वपूर्ण बदलावों की जमीन पर खड़ी होकर क्रान्तिकारी वामपंथी ताकतें और व्यापक मेहनतकश आबादी एक बार फिर क्रान्तिकारी संघर्ष की नयी शुरुआत की जरूरत शिद्दत के साथ महसूस कर रही हैं।

पिछली आधी सदी के दौरान हुए आर्थिक-राजनीतिक-सामाजिक बदलावों ने भारतीय जनता के क्रान्तिकारी संघर्ष के स्वरूप और नारों में भी महत्वपूर्ण बदलाव ला दिये हैं।

गांवों में भी आज लड़ाई सामन्तवाद से नहीं बल्कि पूंजी की सत्ता से है। फार्मर और पूंजीवादी भूस्वामी खेतिहर मजूरों और गरीब किसानों को निचोड़ रहे हैं तथा पूंजी की कमी वाले मध्यम

(पेज 10 पर जारी)

*बिगुल के जून-जुलाई 1999 अंक में हमने विशेष सम्पादकीय अग्रलेख लिखा था, **''युद्धोन्मादी अंधराष्ट्रवाद का विरोध करो।''***

कारगिल-द्रास-बटालिक में तोपें अभी भी पूरी तरह शान्त नहीं हुई हैं। युद्ध खतम होने के बाद भी सीमा पर तनाव बना रहेगा ताकि सीमा पर खड़े दुश्मन को दिखा-दिखाकर विस्फोटक होती जा रही बुनियादी समस्याओं से दोनों देशों की जनता का ध्यान हटाया जा सके। सीमा पर लगातार बढ़ते तनाव के चलते हथियारों की होड़ तीखी होती जायेगी, रक्षा बजट बढ़ता जायेगा जिसकी कीमत चुकाने के लिए जनता को पेट पर पट्टी बांधने के लिए कहा जायेगा। देशभक्ति के जुनून में जनता ठगी जायेगी और हथियार बनाने-बेचने वाले अन्तरराष्ट्रीय इजारेदारों की खूब चांदी कटेगी तथा देशी शस्त्र निर्माण उद्योग भी खूब मुनाफा कमायेगा। इसतरह देशी-विदेशी पूंजी मन्दी और गतिरोध के संकट से भी फौरी तौर पर कुछ राहत पाती रहेगी।

हमारी पक्की राय है कि कारगिल समस्या दोनों देशों के शासक वर्ग की जरूरतों से पैदा की गई है। युद्ध का खरबों का खर्च जनता ही चुकायेगी। दोनों देशों की मेहनतकश जनता को इस बात को समझना होगा।

इस सन्दर्भ में हम लेनिन द्वारा 86 वर्षों पूर्व लिखी गई एक टिप्पणी 'हथियार और पूंजीवाद' प्रकाशित कर रहे हैं। हथियार-निर्माण सबसे बड़े अन्तरराष्ट्रीय उद्योगों में से एक है। हथियार बेचकर मुनाफा कमाने के लिए सभी पूंजीपति जनता को मूंडने का काम करते हैं। अन्य पहलुओं के अतिरिक्त, कारगिल प्रश्न पर सोचते समय हमें इस पहलू को भी ध्यान में रखना होगा। —सम्पादक

हथियार और पूंजीवाद

• वी. आई. लेनिन

ब्रिटेन संसार के सबसे धनी, स्वतंत्र और उन्नत देशों में से एक है। ब्रिटिश ''समाज'' और सरकार भी हथियारों के बुखार से अरसे से उसी तरह ग्रस्त हैं, जिस तरह कि फ्रांसीसी, जर्मन तथा अन्य सरकारें।

और अब ब्रिटिश समाचार पत्र, विशेषकर मजदूरों के समाचारपत्र बहुत ही दिलचस्प आंकड़े प्रकाशित कर रहे हैं, जो हथियारों के उत्पादन के विलक्षण पूंजीवादी ढंग को प्रकट करते हैं। ब्रिटेन के नौसैनिक हथियार खासकर जबरदस्त हैं। ब्रिटेन के जहाज बनाने के कारखाने (वाइकर्स, आर्मस्ट्रांग, ब्राउन तथा अन्य) विश्वविख्यात हैं। ब्रिटेन तथा अन्य देशों द्वारा लाखों-करोड़ों रूबल युद्ध की तैयारियों पर खर्च किये जाते हैं, और यह सब निस्संदेह केवल शांति के हितों में, संस्कृति के संरक्षण के लिए, देश, सभ्यता, आदि के हितों में ही किया जा रहा है।

और हम पाते हैं कि ऐडमिरल और दोनों ही पार्टियों—कंजरवेटिव तथा लिबरल—के प्रमुख राजनेता जहाज निर्माण कारखानों के, बारूद, डाइनामाइट, तोपें बनाने वाले तथा अन्य कारखानों के अंशधारी और निदेशक हैं। उन बुर्जुआ राजनीतिज्ञों की जेबों में सोने की सीधी झड़ी लगी हुई हैं, जो राष्ट्रों में हथियारों की दौड़ को भड़काने और इन विश्वासी, नासमझ, मतिमंद और दब्बू राष्ट्रों की मुंडाई करने में लगे एक अनन्य अंतरराष्ट्रीय गिरोह में इकट्ठे हो गये हैं।

हथियारों को एक राष्ट्रीय मामला, देशभक्ति का मामला समझा जाता है; यह माना जाता है कि हर कोई उनके बारे में अधिकतम गोपनीयता बनाये रखेगा। लेकिन जहाज निर्माण कारखाने, तोपें, डाइनेमाइट और लघु शस्त्र बनाने के कारखाने **अन्तरराष्ट्रीय उद्यम** हैं, जिनमें विभिन्न देशों के पूंजीपति विभिन्न देशों की जनता को धोखा देने और मूंडने के लिए और इटली के खिलाफ ब्रिटेन के लिए और ब्रिटेन के खिलाफ इटली के लिए समान रूप से जहाज और तोपें बनाने के लिए मिलकर काम करते हैं।

कैसा विलक्षण पूंजीवादी ढंग है! सभ्यता, कानून और व्यवस्था, संस्कृति, शांति—और करोड़ों-अरबों रूबल जहाज, डाइनेमाइट, आदि बनाने वाले पूंजी के व्यवसाइयों और ठगों द्वारा हड़पे जा रहे हैं!

ब्रिटेन त्रिराष्ट्र संघ का शत्रु है। इटली त्रिराष्ट्र संघ का सदस्य है। विख्यात वाइकर्स फर्म (ब्रिटिश) की इटली में **शाखाएं** हैं। इस फर्म के अंशधारी और निदेशक (घूसखोर) समाचारपत्रों के जरिये और घूसखोर संसदीय ''मूर्तियों''—कंजरवेटिव और लिबरल, समान रूप से—के जरिये) ब्रिटेन को इटली के खिलाफ और इटली को ब्रिटेन के खिलाफ उकसाते हैं; वे मुनाफे ब्रिटेन और इटली के मजदूरों से प्राप्त करते हैं; दोनों ही देशों की जनता की मुंड़ाई की जाती है।

लगभग सभी कंजरवेटिव और लिबरल मंत्रिमंडल-सदस्य और संसत्सदस्य इन फर्मों के अंशधारी हैं। उनमें चोली-दामन का साथ है। ''महान'' लिबरल मंत्री ग्लैडस्टन के सुपुत्र आर्मस्ट्रांग फर्म के एक निदेशक हैं। विख्यात नौसेना-विशेषज्ञ और नौसेना विभाग के एक उच्चाधिकारी रिअर-ऐडमिरल बैकन को 7,000 पौंड (60,000 रूबल से अधिक) के वेतन पर कार्वेंट्री में तोपें बनाने के एक कारखाने में नियुक्त किया गया है। ब्रिटिश प्रधानमंत्री का वेतन 5,000 पौंड (लगभग 45,000 रूबल) है।

सभी पूंजीवादी देशों में भी निस्संदेह यही होता है। सरकारें पूंजीपति वर्ग के मामलों का प्रबन्ध करती हैं और प्रबन्धकों को अच्छा पैसा दिया जाता है। प्रबंधक स्वयं अंशधारी ही हैं। और वे मुंड़ाई मिलकर करते हैं, ''देशभक्ति'' के बारे में भाषणों की आड़ में....

लेनिन, संग्रहीत रचनाएं, खण्ड 23
[16 (29) मई 1913 को लिखित]

मार्क्सवाद तथा सुधारवाद

(पेज 8 से आगे)

के ''तीन स्तम्भों''[2] में से दो हमारे आन्दोलन के लिए उपयुक्त नहीं रह गये हैं। सेदोव ने आठ घंटे का कार्य-दिवस रहने दिया, जिसे सिद्धान्ततः सुधार के रूप में हासिल किया जा सकता है। उन्होंने ठीक उन चीजों को, जो सुधारों के दायरे से बाहर जाती हैं, हटा दिया या पृष्ठभूमि में पहुंचा दिया। फलस्वरूप, सेदोव ठीक उस नीति का, जो इस फार्मूला में अभिव्यक्त है कि अन्तिम लक्ष्य कुछ नहीं है, अनुसरण करते हुए सीधे-सीधे अवसरवाद में जा धंसे। यह है सुधारवाद, जब ''अन्तिम लक्ष्य'' (जनवाद के सम्बन्ध तक में) को आन्दोलन से दूर धकेला जाता है।

दूसरा तथ्य। विसर्जनवादियों के कुख्यात अगस्त (गत वर्ष के) सम्मेलन[3] ने भी असुधारवादी मांगों को नजदीक लाने, हमारे आन्दोलन की स्वयं हृदय-स्थली तक लाने के बजाय उन्हें—किसी खास मौके तक—दूर धकेल दिया।

तीसरा तथ्य। ''पुराने''[4] को ठुकराकर तथा उसका तिरस्कार कर, उससे अपने को अलग कर विसर्जनवादी अपने को इस तरह सुधारवाद तक सीमित करते हैं। वर्तमान स्थिति में सुधारवाद तथा ''पुराने'' के परित्याग के बीच सम्बन्ध सुस्पष्ट है।

चौथा तथ्य। मजदूरों का आर्थिक आन्दोलन ज्योंही सुधारवाद के बाहर जाने वाले नारों के साथ नाता जोड़ता है, वह विसर्जनवादियों के रोष तथा प्रहारों (''उत्तेजना'', ''हवा में तलवार घुमाने'' आदि, आदि) को जन्म देता है।

परिणाम क्या निकलता है? शब्दों में तो विसर्जनवादी सिद्धान्त के रूप में सुधारवाद को ठुकरा देते हैं, परन्तु व्यवहार में वे आद्यंत उसका अनुसरण करते हैं। एक ओर वे हमें यकीन दिलाते हैं कि उनके लिए सुधार कतई सब कुछ नहीं है, परन्तु दूसरी ओर ज्योंही मार्क्सवादी व्यवहार में सुधारवाद के दायरे के बाहर बढ़ते हैं, विसर्जनवादी उन पर प्रहार करते हैं अथवा अपनी घृणा प्रकट करते हैं।

यह सब होते हुए भी मजदूर आन्दोलन के तमाम क्षेत्रों में घटनाएं हमें बताती हैं कि मार्क्सवादी सुधारों का व्यावहारिक उपयोग करने, उनके लिए संघर्ष करने में पीछे रहना तो दूर, बल्कि निश्चित रूप से आगे रहते हैं। मजदूर श्रेणी[5] के स्तर पर दूमा के चुनावों को ले लें—दूमा के अन्दर तथा बाहर सदस्यों के भाषण, मजदूर पत्र-पत्रिकाओं का संगठन, बीमा सुधार का उपयोग, सबसे बड़ी ट्रेड यूनियन के रूप में धातुकर्मी यूनियन, आदि—आप सर्वत्र मार्क्सवादी मजदूरों को आन्दोलन, संगठन के प्रत्यक्ष, फौरी, ''नित्यप्रति'' के कार्यों के क्षेत्र में, सुधारों के लिए संघर्ष तथा उनके उपयोग के क्षेत्र में विसर्जनवादियों से आगे देखते हैं।

मार्क्सवादी अथक रूप से कार्य कर रहे हैं, सुधार हासिल करने, उनका उपयोग करने का एक भी ''मौका'' हाथ से नहीं जाने देते, प्रचार में, आन्दोलन में, व्यापक आर्थिक कार्रवाइयों, आदि में सुधारवाद के दायरे के बाहर जाने के प्रत्येक पग की निन्दा नहीं, उसका समर्थन तथा उसे अध्यवसायपूर्वक विकसित करते हैं। परन्तु मार्क्सवाद को तिलांजलि दे बैठे विसर्जनवादी मार्क्सवादी समष्टि के ठीक अस्तित्व पर प्रहार कर, मार्क्सवादी अनुशासन को नष्ट कर, सुधारवाद और उदारतावादी मजदूर नीति का प्रचार कर मजदूर आन्दोलन को केवल बिखरा रहे हैं।

इसके अलावा यह तथ्य भी नजर से ओझल नहीं किया जाना चाहिए कि रूस में सुधारवाद एक खास रूप में, यानी वर्तमान रूस तथा वर्तमान यूरोप की राजनीतिक परिस्थिति की बुनियादी अवस्थाओं की सादृश्यता के रूप में व्यक्त होता है।

उदारतावादी के दृष्टिकोण से यह सादृश्यता न्यायोचित है, इसलिए कि उदारतावादी यह विश्वास करता है और मानता है कि ''खुदा का शुक्र है, हमारे पास संविधान है''। उदारतावादी जब इस विचार की पैरवी करता है कि 17 अक्टूबर के बाद सुधारवाद के दायरे के बाहर जनवाद का प्रत्येक पग पागलपन, जुर्म, पाप आदि है, तो वह बुर्जुआ वर्ग के हित को व्यक्त करता है।

परन्तु यही बुर्जुआ विचार हमारे विसर्जनवादियों द्वारा अमल में लाये जा रहे हैं, जो ''खुली पार्टी'' तथा ''कानूनी पार्टी के लिए संघर्ष'', आदि को रूस में निरन्तर और क्रमबद्ध ढंग से (कागज पर) ''रोप रहे हैं''।

दूसरे शब्दों में, उदारतावादी की भांति वे उस विशेष पथ के बिना, जिसके फलस्वरूप यूरोप में संविधानों का निर्माण तथा पीढ़ियों के दौरान, कभी-कभी शताब्दियों के दौरान तक उनका सुदृढ़ीकरण हुआ, रूस में यूरोपीय संविधान रोपने की वकालत करते हैं। विसर्जनवादी तथा उदारतावादी, जैसा कि कहा जाता है, खाल को पानी में डाले बिना धोना चाहते हैं।

यूरोप में सुधारवाद का वास्तविक अर्थ है मार्क्सवाद को तिलांजलि देना तथा उसके स्थान पर बुर्जुआ ''सामाजिक नीति'' रखना। रूस में विसर्जनवादियों के सुधारवाद का अर्थ मात्र यही नहीं है, अपितु मार्क्सवादी संगठन को नष्ट करना, मजदूर वर्ग के जनवादी कार्यभारों का परित्याग करना, उनके स्थान पर उदारतावादी मजदूर नीति रखना भी है।

टिप्पणियां

1. 'सेवेरनाया प्राव्दा' ('उत्तरी सत्य') - 1 (14) अगस्त से 7 (20) सितम्बर, 1913 तक बोल्शेविक समाचारपत्र 'प्राव्दा' के कई नामों में एक। - 218

2. ''तीन स्तम्भ''- मजदूर वर्ग की तीन मुख्य क्रान्तिकारी मांगों का सांकेतिक नाम : जनवादी जनतंत्र; जमींदारी भूस्वामित्व का उन्मूलन व भूमि का किसानों को हस्तांतरण; आठ घंटे का कार्यदिवस जारी करना।- 219

3. 1912 का अगस्त सम्मेलन- त्रात्स्कीवादियों, विसर्जनवादियों और अन्य अवसरवादियों का यह सम्मेलन अगस्त, 1912 में वियेना में हुआ था और इसके लिए विसर्जनवादियों के पीटर्सबर्ग तथा मास्को ''पहल ग्रुपों'', बुंद तथा ट्रांसकाकेशियाई मेंशेविकों ने भी अपने डेलीगेट भेजे थे। सम्मेलन में भाग लेने वाले अधिकांश लोग मजदूर आन्दोलन से कट हुए प्रवासी ग्रुपों के प्रतिनिधि थे। सम्मेलन के संगठनकर्ताओं का लक्ष्य इन सभी तरह-तरह के तत्वों को एकजुट करके एक अवसरवादी पार्टी बनाना था, किंतु 'ल्येर्योद' ग्रुप, लाटवियाई सामाजिक-जनवादियों, आदि के सम्मेलन से वाक-आउट कर जाने के कारण यह लक्ष्य पूरा न हो सका। सम्मेलन में त्रात्स्की की पहले पर एक एक पार्टी विरोधी गुट बनाया गया, जिसे अगस्त गुट कहा जाता था।

सम्मेलन ने सामाजिक-जनवादी कार्यनीति के सभी प्रश्नों पर पार्टी विरोधी और विसर्जनवादी प्रस्ताव पास किये और पार्टी द्वारा गुप्त रूप से अपनी कार्रवाइयां जारी रखे जाने का विरोध किया। जातियों के आत्मनिर्णय के अधिकार की मांग के स्थान पर उसने सांस्कृतिक-राष्ट्रीय स्वायत्तता की मांग पर जोर दिया, यद्यपि विभिन्न पार्टी कांग्रेसों के निर्णयों में उसे राष्ट्रवाद की अभिव्यक्ति मानकर निंदनीय ठहराया जा चुका था। - 219

4. जारशाही काल में वैध पत्र-पत्रिकाओं के लिए लिखे गये लेखों में लेनिन को प्रायः ''ईसपी भाषा'', याने सांकेतिक, लाक्षणिक शब्द और मुहावरे इस्तेमाल करने पड़ते थे। उदाहरणार्थ, ''रूसी सामाजिक-जनवादी मजदूर पार्टी'' के नाम के बदले वह ''पुराना'' शब्द प्रयोग करते थे और 'प्राव्दा' के पाठक समझ जाते थे कि आशय मजदूर वर्ग की अरसे से अस्तित्वमान क्रान्तिकारी पार्टी से है, जिसे भंग करके उसके स्थान पर मेंशेविक-विसर्जनवादी ''नयी'', वैध, क्रान्तिकारी कार्यकलाप से कोई सम्बन्ध न रखने वाली ''व्यापक मजदूर पार्टी'' बनाना चाहते थे। आगे चलकर पाठक देखेंगे कि लेनिन ने रूसी सामाजिक-जनवादी मजदूर पार्टी के लिए ''मार्क्सवादी समष्टि'' नाम भी इस्तेमाल किया है। - 219

5. राज्य दूमा के सदस्यों का निर्वाचन तथाकथित श्रेणी (क्यूरिया) प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त के आधार पर होता था और श्रेणियों का निर्धारण सामाजिक संस्तर या सम्पत्ति के अनुसार किया जाता था। इस प्रकार मजदूर मजदूर श्रेणी के प्रतिनिधित्व की मात्रा के अनुसार चुनते थे, भूस्वामी (जमींदार) भूस्वामी श्रेणी के प्रतिनिधित्व की मात्रा के अनुसार, इत्यादि।- 220

लेनिन, संग्रहीत रचनाएं, खण्ड 24
(12 सितम्बर 1913 में प्रकाशित)

15 अगस्त, 1947 की गद्दारी को याद करो!

(पेज 9 से आगे)

किसानों को भी जगह-जमीन से उजाड़कर सर्वहारा की पांतों में धकेल रहे हैं। सामन्ती ताकतें भी कहीं-कहीं हैं, पर अवशेष के रूप में। पूंजीवादी भूस्वामी और कुलक पुराने सामन्तों से किसी भी मायने में कम बर्बर और निरंकुश नहीं हैं। आधुनिक खेती ने तथा कृषि आधारित उद्योगों ने भी गांवों पर देशी-विदेशी पूंजी की जकड़ को मजबूत बनाया है।

भारत के पूंजीपति वर्ग का कोई भी हिस्सा आज साम्राज्यवाद के खिलाफ नहीं है, किसी भी हिस्से का राष्ट्रीय चरित्र नहीं है। पूंजीवादी भूस्वामियों, छोटे-बड़े देशी पूंजीपतियों और साम्राज्यवादियों के बीच सिर्फ मुनाफे के बंटवारे को लेकर झगड़े होते हैं। आज भारतीय पूंजीपति वर्ग ने साम्राज्यवाद के लिए देशी अर्थतंत्र को पूरी तरह खोल दिया है। भारतीय क्रान्ति का स्वरूप आज एक नये प्रकार की समाजवादी क्रान्ति का है। साम्राज्यवाद-पूंजीवाद विरोधी नई समाजवादी क्रान्ति का नेतृत्व सर्वहारा वर्ग के हाथों में होगा। गरीब किसान, मध्यम किसान, शहरी मध्य वर्ग तथा तमाम किस्म की अर्द्धसर्वहारा आबादी क्रान्तिकारी संयुक्त मोर्चे के घटक होंगे।

क्रान्तिकारी लोक स्वराज्य के नारे का अर्थ यही है कि आज भारत की जनता को वास्तविक आजादी तभी हासिल हो सकती है जब वह मुनाफे और बाजार के लिए उत्पादन की पूरी व्यवस्था को नष्ट करके एक ऐसी व्यवस्था कायम करे जिसमें उत्पादन सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए हो और उत्पादों का समानतापूर्ण बंटवारा हो। यह तभी सम्भव है जब मेहनतकश अवाम एक संगठित राजनीतिक शक्ति के नेतृत्व में—एक सर्वभारतीय क्रान्तिकारी सर्वहारा पार्टी के नेतृत्व में उठ खड़ा हो और उत्पादन, राजकाज और समाज के पूरे ढांचे पर अपना नियंत्रण कायम कर ले।

सर्वहारा वर्ग की पार्टी बनाने की प्रक्रिया अब इस नये दौर में, नये ढंग से और नये सिरे से शुरू करनी होगी।

सर्वहारा क्रान्तिकारी संगठनों को विचारधारा, क्रान्ति के कार्यक्रम और सांगठनिक लाइन के सवाल पर अध्ययन और बहस के सिलसिले को आगे गति देने के साथ ही शहर और गांवों की सर्वहारा आबादी को गोलबंद और संगठित करने का काम करना होगा और उनके बीच से पार्टी कतारों में भरती करनी होगी। ऐसे मजदूर अखबारों की इस मायने में अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका होगी जो मजदूर वर्ग के शिक्षक, प्रचारक, आन्दोलनकर्ता और संगठनकर्ता की भूमिका निभायें। साथ ही आबादी के हर उस हिस्से के बीच प्रचार, संगठन और आन्दोलन का काम करना होगा जो साम्राज्यवाद-पूंजीवाद के खिलाफ है।

जनता की सही आजादी के लिए संघर्ष की नई तैयारियों में हमें इसी ढंग से जुट जाना होगा। •

मजदूर नायक : क्रान्तिकारी योद्धा

जोहान फिलिप्प बेकर

वर्ग-सचेत मजदूरों के बहादुर बेटे जब एक बार अपनी मुक्ति के दर्शन को पकड़ लेते हैं; जब एक बार वे सर्वहारा क्रान्ति के मार्गदर्शक सिद्धान्त को पकड़ लेते हैं; तो फिर उनकी अडिग निष्ठा, शौर्य, व्यावहारिक जीवन की जमीनी समझ और सर्जनात्मकता उन्हें हमारे युग के नये नायकों के रूप में ढाल देती है। ऐसे लोग उस करोड़ों-करोड़ आम मेहनतकश जनसमुदाय के उन सभी वीरोचित उदात्त गुणों को अपने व्यक्तित्व के जरिए प्रकट करते हैं, जो इतिहास के वास्तविक निर्माता और नायक होते हैं। इसलिए ऐसे लोग क्रान्तिकारी जनता के सजीव प्रतिनिधि चरित्र और इतिहास के नायक बन जाते हैं और उनकी जीवन-गाथा एक महाकाव्यात्मक आख्यान बन जाती है।

'बिगुल' के इस अनियमित स्तम्भ में हम दुनिया की सर्वहारा क्रान्तियों की ऐसी ही कुछ हस्तियों के बारे में उन्हीं के समकालीन किसी महान क्रान्तिकारी नेता या लेखक की संस्मरणात्मक टिप्पणी या रेखाचित्र समय-समय पर अपनी टिप्पणी के साथ प्रकाशित करते रहेंगे। ये ऐसे लोगों की गाथाएं होंगी जिन्होंने शोषण-उत्पीड़न की निर्मम-अंधी दुनिया के अंधेरे से ऊपर उठकर जिन्दगी भर उस अंधेरे से लोहा लिया और क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग के प्रतिनिधि चरित्र बन गये। वे क्रान्तिकथाओं के ऐसे नायक थे, जो इतिहास-प्रसिद्ध तो नहीं थे, पर जिनकी जिन्दगी से यह शिक्षा मिलती है कि श्रम करने वाले लोग जब ज्ञान तक पहुंचते हैं और अपनी मुक्ति का मार्ग ढूंढ़ लेते हैं तो फिर किस तरह अडिग-अविचल रहकर वे क्रान्ति में हिस्सा लेते हैं। उनके भीतर ढुलमुलपन, कायरता, कैरियरवाद, उदारतावाद और अल्पज्ञान पर इतराने जैसे दुर्गुण नहीं होते जो मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों से आने वाले कम्युनिस्टों में क्रान्तिकारी जीवन के लम्बे समय तक बने रहते हैं और पार्टी में तमाम भटकावों को बल देने में अहम भूमिका निभाते हैं।

हमारा दृढ़ विश्वास है कि भारतीय मजदूरों के बीच से भी ऐसे ही वर्ग-सचेत बहादुर सपूत आगे आयेंगे। सर्वहारा वर्ग की पार्टी के क्रान्तिकारी चरित्र के बने रहने की एक बुनियादी शर्त है कि मेहनतकशों के बीच के ऐसे सम्भावनायुक्त तत्वों की राजनीतिक शिक्षा-दीक्षा करके उन्हें निखारा-मांजा जाये और क्रान्तिकारी कतारों में भरती किया जाये।

- सम्पादक

एक संक्षिप्त परिचय

इस अंक में हम **जोहान फिलिप्प बेकर** (1809-1886) के बारे में विश्व सर्वहारा के महान नेता और शिक्षक **फ्रेडरिक एंगेल्स** द्वारा लिखी गयी उस टिप्पणी का एक अंश दे रहे हैं जो उन्होंने बेकर की मृत्यु के बाद उन्हें याद करते हुए लिखी थी। इसके साथ ही हम **अगस्त बेबेल** के नाम एंगेल्स का एक पत्र भी दे रहे हैं जिसमें उन्होंने बेकर के दुर्लभ क्रान्तिकारी गुणों की चर्चा की है। अगस्त बेबेल 19वीं सदी के यूरोपीय मजदूर आन्दोलन की एक हस्ती थे जो जर्मन सामाजिक जनवादी पार्टी व दूसरे इण्टरनेशनल के संस्थापकों में से एक थे तथा मार्क्स-एंगेल्स के मित्र थे।

जोहान फिलिप्प बेकर एक जर्मन मजदूर थे जिन्होंने तीसरे दशक में युवावस्था की दहलीज पर कदम रखने के साथ ही मजदूरों के बीच उभर रही आन्दोलनात्मक सरगर्मियों में भाग लेना शुरू कर दिया था। उनकी राजनीतिक चेतना लगातार आगे विकसित होती रही। 1848-1849 में जब पूरे यूरोप में क्रान्तियों का दावानल भड़क उठा तो बेकर ने उसमें बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया। जर्मनी में क्रान्तिकारी उभार के उतार के बाद वे स्विट्जरलैण्ड जाकर बस गये।

जोहान फिलिप्प बेकर जर्मनी के मजदूरों की उस पहली पीढ़ी के सदस्य थे जिसने कम्युनिज्म के सिद्धान्तों को स्वीकार किया था और सर्वहारा वर्ग की राजनीतिक पार्टी के निर्माण में बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया था।

पहले इण्टरनेशनल (इण्टरनेशनल वर्किंगमेंस एसोसियेशन, 1864 में गठित) की स्थापना में हिस्सा लिया और स्विट्जरलैण्ड में रहते हुए उसकी जेनेवा शाखा को संगठित करने का काम भी किया। स्विट्जरलैण्ड में रहते हुए बेकर ने इण्टरनेशनल की जर्मन शाखाओं के मुखपत्र **'अग्रदूत'** *(Vorbote)* का संपादन किया। 1871 में मार्क्स-एंगेल्स के साथ मिलकर दक्षिणी फ्रांस में विद्रोह पैदा करने की जी-तोड़ कोशिश की थी ताकि पेरिस कम्यून को बचाया जा सके। 21 जुलाई, 1871 के एक पत्र में बेकर ने लिखा है : "इसके लिए हमने मनुष्य के शक्तियोग्य सबकुछ न्यौछावर किया, जोखिम मोल लिया... यदि हमारे पास मार्च तथा अप्रैल में अधिक धन होता, तो हम पूरे दक्षिणी फ्रांस को उठ खड़ा करते और पेरिस कम्यून को बचाते।" यूरोपीय मजदूर आन्दोलन में वैज्ञानिक समाजवाद के विचारों का विरोध करने वालों के खिलाफ बेकर हमेशा अडिग-अविचल रूप से सक्रिय रहे। उनकी दोस्ती **मार्क्स, एंगेल्स, बेबेल** आदि से आजीवन बनी रही। बुढ़ापे से अप्रभावित जिंदादिल, बहादुर, जीवन्त मजदूर योद्धा बेकर आखिरी सांस तक एक सच्चे भौतिकवादी और क्रान्तिकारी मजदूर की जिन्दगी जिए। 1886 में 77 वर्ष की उम्र में उनकी मृत्यु हुई।

— आलोक रंजन

जोहान फिलिप्प बेकर

• फ्रेडरिक एंगेल्स

बेकर दुलर्भ चरित्र के इंसान थे। केवल एक शब्द से ही उनका पूरा चरित्र उजागर हो जाता है : यह शब्द है **स्वस्थ।** शरीर और दिमाग दोनों ही दृष्टि से वह पूरे तौर से स्वस्थ थे। सबल देह और जबर्दस्त शारीरिक शक्ति के वह एक खूबसूरत आदमी थे; अपनी खुशमिजाजी तथा स्वस्थ गतिविधियों से उन्होने अपने मस्तिष्क को भी, जो कि शिक्षित न होते हुए भी असंस्कृत कदापि नहीं था, समन्वित रूप से अपने शरीर के समान ही विकसित कर लिया था। वह उन चन्द लोगों में से थे जिनके लिए सही मार्ग पर चलने के लिए इतना ही पर्याप्त होता है कि वह अपनी सहज प्रवृत्तियों का अनुसरण करते जाएं। यही कारण था कि क्रान्तिकारी आन्दोलन के विकास के हर कदम के साथ कदम मिला कर चलते जाना तथा उसके आगे की पांतों में अठहत्तरवें वर्ष में भी उसी उत्साह और लगन के साथ खड़ा होना उनके लिए आसान था—जिससे अपनी उम्र के अठारहवें वर्ष में वह खड़े होते थे। जो बालक 1814 में अपने देश के अन्दर से गुजरने वाले कज्जाकों के साथ खेला था और 1820 में जिसने कोत्सेबू के हत्यारे जान्द को मौत के घाट उतारा जाता देखा था, वह तीसरे दशक के डावांडोल विपक्षी की स्थिति से विकसित होकर और भी आगे बढ़ गया था तथा 1886 में भी आन्दोलन के उच्चतम स्थान पर मौजूद था। 1848 के 'संजीदा' प्रजातंत्रवादियों में से अधिकांश लोगों की तरह वह कोई निरानन्द, उच्च सिद्धान्त वाले ज्ञानशून्य आदमी भी नहीं थे; बल्कि प्रफुल्लित पफाल्ज के सच्चे पुत्र थे, जीवन के प्रति जबर्दस्त लगाव रखने वाले। वह ऐसे आदमी थे जो अन्य सभी लोगों की तरह मदिरा, स्त्रियों तथा गीत-संगीत से प्रेम करते थे। वह **'निबेलुंग के सम्बन्ध में गीत'** के देश में 'वर्म्स' के समीप बड़े हुए थे। अपने जीवन के बाद वर्षों में भी वह प्राचीन महाकाव्यों के किसी पात्र की ही तरह लगते थे। तलवारों के प्रहारों के बीच शत्रु को खुशी-खुशी और व्यंग्यपूर्वक ललकारते हुए तथा, जब प्रहार करने के लिए कोई न होता, तो लोकगीतों की रचना करते हुए वह, वायलिन वादक फोल्कर के इसी रूप में और केवल इसी रूप में दिखलाई पड़ते रहे होंगे।

....

जोहान फिलिप्प बेकर के नाम मार्क्स का पत्र

'लीबनिज' तथा 'सब तुच्छ' से सम्बन्धित आपको दोनों लघु कविताएं मुझे बेहद पसन्द आयीं; अच्छा होगा यदि आप (मेरे सुझाव से सहमत हों तो) इन दोनों को एक चिट्ठी में रखकर फौरन वेडेमेयर के पास भेज दें।

—कार्ल मार्क्स
9 अप्रैल, 1860

बुढ़ापे में भी प्रफुल्लचित्त, संघर्ष के लिए तैयार

प्रिय बेबेल,

यह पत्र तुम्हें मैं उस बातचीत के सम्बन्ध में लिख रहा हूं जो चिरप्रिय जोहान फिलिप बेकर से मेरी हुई है। वह दस दिन तक यहां मेरे साथ रुके थे और अब पेरिस होकर (जहां अचानक उनकी बेटी की मृत्यु हो गयी थी) वह जेनेवा वापस पहुंच गये होंगे। उस वृद्ध महाबली को एक बार फिर देखकर मेरा मन खुशी से भर गया था। शारीरिक रूप से यद्यपि वह ढल गये हैं, किन्तु अब भी वह बहुत हंसमुख हैं और उनके अन्दर संघर्ष की भावना भरी हुई है। वह हमारी राइनी, फ्रांकिश गाथा में से ही निकले हुए एक महापुरुष हैं जो **'निबेलुंग के गीत'** में मूर्तमान हो गय हैं—वह साक्षात् वायलिन वादक फोल्कर हैं।

वर्षों पहले मैंने उनसे आग्रह किया था कि वह अपने संस्मरण और अनुभवों को लिख डालें। अब उन्होंने मुझे बतलाया कि तुमने तथा दूसरों ने भी इसके लिए उन्हें उत्साहित किया था, कि वह स्वयं भी उन्हें लिखने के बहुत इच्छुक हैं और कई बार तो उन्होंने लिखना शुरू भी किया था, किन्तु केवल छिटपुट ही प्रकाशन होने की वजह से उनके अन्दर वास्तविक उत्साह नहीं पैदा हो सका (उदाहरण के लिए, **न्यू बेल्ट** (222) के पास छपने के लिए उन्होंने कई वर्ष पहले कई बहुत बढ़िया चीजें भेजी थीं, किन्तु, जैसा कि लीबनेख्त ने मोत्तेलर के माध्यम से उन्हें सूचित किया था, वे चीजें पर्याप्त रूप से 'उपन्यासात्मक' नहीं पायी गयी थीं!)

—अगस्त बेबेल के नाम एंगेल्स का पत्र
8 अक्टूबर, 1886

15 अगस्त के अवसर पर कुछ कविताएं

किसकी आजादी? कैसी आजादी?

ढोल बजे ऐलान हुआ आजादी आई
खून बहाये बिना लीडरों ने दिलवाई
खुश होकर अंग्रेजों ने दी नेताओं को
सत्य-अहिंसावादी वीर विजेताओं को !

हम चकराए, फेल हो गई बुद्धि हमारी
क्षणभर चकाचौंध में आंखें मुंदी हमारी
पर फिर देखा, अब भी सारा ठाट वही है
वही फौज है, वही पुलिस है, लाट वही है !

... ...

खुली हमारी आंखें जब यह जमीं बिक चुकी
चिर कटार से जब स्वदेश की देह बंट चुकी
अपना भाई सुहृद पड़ोसी गैर हो गया
खोद हमारे आंगन दुश्मन बैर बो गया !

किन्तु आज हम दुश्मन को पहचान चुके हैं
उसकी सब काली करतूतें जान चुके हैं
ठान चुके हैं हम कि शत्रु से भिड़े रहेंगे
कफन बांध इन संघर्षों में अड़े रहेंगे !

आज खून से रंगी ध्वजा सबसे आगे है
क्रान्ति शान्ति की लाल ध्वजा सबसे आगे है
अपनी किस्मत का नूतन निर्माण चला है
क्रूर मौत से भीषण रण-संग्राम चला है !

अंदर की यह आग एक दिन भड़केगी ही !
नई गुलामी की बेड़ी भी तड़केगी ही !!

• शंकर शैलेन्द्र
(1949)

झूठ-मूठ सुजला-सुफला के गीत न अब हम गाएंगे
दाल-भात तरकारी जबतक नहीं पेट भर खायेंगे

• नागार्जुन
(सितम्बर, 1948)

पुलिस और पलटन के हाथी कितना चारा खाते हैं,
वही रंग है, वही ढंग है, नहीं फरक कुछ पाते हैं,
ऊपर वाले बैठे-बैठे खाली बात बनाते हैं,
बाढ़-अकाल, महामारी में काम नहीं कुछ आते हैं।

देशभक्ति की सनद मिल रही आये दिन शैतानों को,
डांट-डपट उपदेश मिल रहे दुखी मजूर-किसानों को
बात-बात में नाक रगड़ना पड़ता है इंसानों को
हरी फसल को चरने छुट्टा छोड़ दिया हैवानों को।

सड़ी-गली नौकरशाही से पहले ही ऊबे थे हम,
इधर सुराज मिला है तबसे दूर हो गये सभी भरम,
नेता परेशान है जनता का तूफान दबाने में।
लाल भवानी प्रकट हुई है सुना कि तेलंगाने में।।

• नागार्जुन
(सितम्बर, 1948)

उ.प्र. में पंचायती राज का नया शिगूफा

सत्ता के विकेन्द्रीकरण उर्फ जनतांत्रीकरण के ढोल की पोल

• मुकुल श्रीवास्तव

पिछले लगभग छह माह से उत्तर प्रदेश की कल्याणसिंह सरकार सत्ता का विकेन्द्रीकरण करने और शासन की बागडोर ग्राम पंचायतों को सौंपने के प्रयासों में लगी रही। पहले शासनादेश जारी हुआ, फिर 'पंचायती राज संशोधन अध्यादेश' बना और विधानसभा में पक्ष-विपक्ष के बीच गर्मागर्म बहस-मुबाहसे के बीच विगत 23 जुलाई को यह विधेयक पारित हो गया। राजनीतिक हलकों में कुछ अगर-मगर रहा भी तो महज विधायकों के अधिकारों में तथाकथित कटौती की आशंका को लेकर।

• कर्ज के मकड़जाल में फंसी राज्य सरकार का एक नया हथकण्डा

• 12 विभाग ''मृत सवंर्ग'' घोषित, 6 लाख नौकरियों का भविष्य अंधकारमय

• अब ठेके पर पढ़ायेंगे ''शिक्षक मित्र'' और ''आचार्य'' तथा सरकारीकर्मी बनेंगे ठेकाकर्मी

सत्ता के विकेन्द्रीकरण उर्फ जनतांत्रीकरण का शिगूफा सर्वप्रथम मध्यप्रदेश की कांग्रेसी सरकार ने उछाला था जो काफी ''कारगर'' सिद्ध हुआ। पंचायतों को मध्यप्रदेश से भी ज्यादा अधिकार सौंपकर उत्तर प्रदेश की कल्याण सरकार ने इसका और ''जनतांत्रीकरण'' कर दिया है।

क्या वास्तव में भाजपा सरकार ने सत्ता का विकेन्द्रीकरण करके जनता के हाथों में शक्ति सौंप दी है? जिस सरकार का जनतंत्र पुलिस की लाठी और गोली हो; जिसने दमन के कीर्तिमान स्थापित किये हों, वह भला जनतांत्रीकरण के लिए इतना व्याकुल और चिन्तित क्यों? इसके लिए तथ्यों की गहराई से पड़ताल जरूरी है।

सर्वप्रथम शासनादेश और उसका स्थान लेने वाले संशोधित अध्यादेश के मुख्य बिन्दुओं को देखा जाये।

सत्ता के विकेन्द्रीकरण के लिए उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा पहले जारी शासनादेश और अब पारित 'पंचायतीराज संशोधन विधेयक, के तहत ग्राम पंचायत, पंचायतीकरण, कृषि, सिंचाई, समाज कल्याण, गन्ना, भूमि विकास व जल संसाधन, बेसिक शिक्षा, चिकित्सा, स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण, खेलकूद एवं युवा कल्याण जैसे 12 विभागों के समस्त कार्य अब ग्राम पंचायतों के मातहत होंगे। इनके आकस्मिक व अन्य सभी प्रकार के अवकाश व लघु दण्ड दिये जाने का अधिकार संबंधित ग्राम पंचायतों को होगा।

इसका सबसे महत्वपूर्ण पहलू यह है कि प्रदेश के कुल 16 लाख कर्मचारियों में से राज्य सरकार ने जिन छह लाख शिक्षकों-कर्मचारियों को पहले चरण में पंचायतों को हस्तान्तरित किया है उन सभी पदों को ''मृत संवर्ग'' घोषित कर दिया गया है। इनमें से लगभग 60 हजार प्रत्येक वर्ष तरक्की पायेंगे या सेवामुक्त होंगे, जिन पर नयी भर्ती नहीं होगी। बदले में, गांव पंचायतों द्वारा गांव से ही महज 500 रुपये से 1450 रुपये माहवारी मानदेय (वेतन नहीं) देकर ठेके पर स्थानीय बेरोजगारों से काम लिया जायेगा। मतलब यह कि 6000 रुपये पाने वाले कर्मचारी का स्थान 500 रुपये पाने वाला वह व्यक्ति लेगा जिसे किसी प्रकार का अन्य कोई अधिकार प्राप्त नहीं होगा। लम्बे संघर्षों और अकूत कुर्बानियों के बाद अर्जित पेंशन-बोनस-भत्ते आदि का तो अधिकारी वह कदापि नहीं होगा, उसकी नौकरी की भी कोई गारंटी नहीं होगी। इस प्रकार नयी विधि द्वारा ''कम खर्चे में कामों की गुणवत्ता'' सुधारी जायेगी।

यही स्थिति प्राथमिक विद्यालयों की है। यहां शिक्षकों की कमी दूर करने के लिए पंचायतें अब ठेके पर ''शिक्षक मित्र'' नियुक्त करेंगी, जिनका इण्टरमीडिएट पास होना ओर स्थानीय होना जरूरी होगा। इन ''शिक्षक मित्रों'' को एक माह प्रशिक्षण दिया जायेगा और दस माह के वेतन का अनुबन्ध किया जायेगा। प्रशिक्षण के दौरान चार सौ रुपये तथा दस महीने तक 2250 रुपये का मानदेय इन्हें मिलेगा। इन ''शिक्षक मित्रों'' को ग्रीष्मावकाश का वेतन नहीं मिलेगा। इसके अतिरिक्त 'शिक्षा गारण्टी योजना' के तहत छह से ग्यारह साल तक के कक्षा एक व दो में पढ़ने वाले बच्चों के लिए नये स्कूल खुलेंगे। यहां प्रतिदिन चार घण्टे पढ़ाने के लिए ''आचार्य'' नियुक्त होंगे जिन्हें रु. 1000 रुपये प्रति माह दिया जायेगा।

इस प्रकार कर्ज और उसके ब्याज के भंवरजाल में फंसी और दिवालिया होने के कगार पर खड़ी राज्य सरकार ने अपने आर्थिक संकट से उबरने का एक अच्छा रास्ता तलाश लिया है। इस वक्त प्रदेश सरकार को कुल 28 हजार करोड़ रुपये के राजस्व व्यय में से 12 हजार करोड़ रुपये केवल कर्ज का ब्याज चुकाने में खर्च करना पड़ता है। शेष राशि में से एक भारी हिस्सा विधायकों-नौकरशाहों के पूरे लवाजमात पर खर्च हो जाता है। **एक ''भारी बोझ'' प्रदेश सरकार के ऊपर 16 लाख कर्मचारियों का वेतन था। अब इसका भी अच्छा-खासा बोझ कम कर देगा यह कल्याणसिंह का पंचायती राज।** वाह, क्या खूब! उन्हें पंचायतों के ''जनतांत्रीकरण'' का तमगा भी मिल गया और राजस्व की भारी रकम भी बच जायेगी।

अब जरा सत्ता के विकेन्द्रीकरण और पंचायतों के जनतांत्रीकरण की भी तफ्तीश की जाये! इसके लिए गांवों के वर्तमान स्वरूप और ग्राम सभा के चरित्र और उनमें हुए बदलावों को समझना बेहद जरूरी है।

आज गांवों की स्थिति पहले से काफी बदल चुकी है। साथ ही ग्राम सभा से लेकर ब्लाकों तक के चुनावों के स्वरूप में काफी बदलाव आ चुका है। इसका मुख्य कारण वह नया सम्पत्तिशाली तबका है जो पिछले चार-पांच दशकों में गांवों में पैदा हुआ है और फला-फूला है। इनमें से कुछ तो वे पुराने जमींदार हैं जिन्होंने आधुनिक तरीके की खेती के आधार पर अपने प्रभाव और समृद्धि को नये रूप में बरकरार रखा है तथा कुछ जमींदारी के जमाने के वे खुशहाल काश्तकार हैं जिन्होंने खेती का मालिकाना हासिल करने के बाद अपना आर्थिक आधार काफी मजबूत बना लिया है और कुलक बन गये हैं। कुछ नये पैदा हुए बुर्जुआ भूस्वामियों ने भी अपना प्रभाव-विस्तार किया है। खेती की आधुनिक तकनीक के अतिरिक्त कोटा-परमिट, ठेका-पट्टी और नये-नये व्यवसाय का लाभ उठाकर समृद्ध और प्रभुत्वशाली बने तबके भी अस्तित्व में आये हैं। भूमण्डलीकरण के दौर की नयी आर्थिक नीति से भी गांवों तक में जो पूंजी के नये केन्द्र विकसित हुए हैं उससे भी एक नया सम्पत्तिशाली तबका पैदा हुआ है।

गांवों के ये दौलतमंद तबके पूंजीशाही के स्थानीय आधार-स्तम्भ हैं। इनकी संस्कृति पैसे की निरंकुश संस्कृति है। ये गांवों में पहले से ही चली आ रही गुटबंदी, जातिवाद, साम्प्रदायिकता और फुटमत को बढ़ावा देते हैं और चुनाव या अन्य मौकों पर अत्यन्त नग्न रूप में इनका इस्तेमाल करते हैं। अपने आर्थिक हितों के लिए इन्हीं तबकों द्वारा आज ग्राम प्रधान, ब्लाक प्रमुख, सहकारी समितियों के अध्यक्ष आदि पदों का सीधे इस्तेमाल किया जाता है। **पूरे देश के पैमाने पर चल रही भ्रष्ट पूंजीवादी राजनीति को गांव के स्तर पर संचालित करने में तहसील व ब्लॉक कार्यालयों, सहकारी समितियों से लेकर भूमि विकास बैंकों और खण्ड विकास कार्यालयों की भ्रष्ट नौकरशाही से गांव के इन प्रभुत्वशाली वर्गों की सीधा सांठ-गांठ रहती है।**

अब ग्राम पंचायतों के प्रतिनिधियों को ही देखें। वैसे तो ज्यादातर गांवों में ग्राम प्रधान पूरी किसान आबादी के सच्चे प्रतिनिधि नहीं होते, लेकिन अपवादस्वरूप यदि कोई आदर्शवादी, कर्मठ और ईमानदार व्यक्ति प्रधान चुन भी लिया जाता है तो निहित स्वार्थों की जकड़बन्दी, भ्रष्टाचार और नौकरशाही के आगे उसकी एक नहीं चलती। पद पर रहने या न रहने, दोनों ही स्थितियों में गांव के प्रभावशाली लोगों का ही बोलबाला होता है। ऐसी स्थिति में पंचायती राज का भी सीधा फायदा कुलकों-फार्मरों-भूस्वामियों को ही होगा—सत्ता उन्हीं के हाथों में केन्द्रित होगी।

दूसरे, आज नयी विश्व अर्थव्यवस्था लागू होने के बाद देश के बड़े पूंजीपतियों को लूट के जो नये साधन मुहैया हुए हैं उसमें से वे कुलकों-फार्मरों को तो हिस्सा देने से रहे। वे अपना हिस्सा काटकर तो इन्हें कुछ देते नहीं। ऐसे में, नयी पंचायती व्यवस्था गांव के इन सम्पत्तिशाली तबकों को आम जनता को लूटने-निचोड़ने का नया जरिया मुहैया करायेगी। इससे नौकरशाही की एक हद तक पकड़ ढीली जरूर होगी लेकिन लूट में मिलीभगत बरकरार रहेगी। और गांव का सम्पत्तिशाली वर्ग इन अधिकारों के साथ व्यवस्था का एक मजबूत पाया बनेगा।

• कुलकों-फार्मरों की सत्ता में भागीदारी और बढ़ेगी

• ऊपरी लूट की बंदरबाट के साझीदार गांव तक फैलेंगे

• जातीय-मजहबी बंटवारा और तीखा होगा

• भाजपा के लिए मध्यम और निचली जातियों के वोट बैंक पर कब्जे का रास्ता खुलेगा

तीसरे, पूंजीवादी व्यवस्था में गांव स्तर पर पंचायतों को जितना ही अधिकार मिलेगा, जाति-मजहब-क्षेत्र के उतने ही बंटवारे होंगे जो व्यवस्थागत संकटों से होने वाले वर्तमान विद्रोह को रोकने में व्यवस्था के लिए पहले से ज्यादा सहायक सिद्ध होंगे।

अब सवाल यह पैदा होता है कि इस नई चाल से व्यवस्थागत फायदों के अलावा भाजपा को पार्टीगत फायदे क्या होंगे?

भाजपा का वोट बैंक मुख्यत: सवर्ण हिन्दू जातियों में है, लेकिन गांव की मध्यम जातियों में नहीं रहा है। पश्चिमी उत्तर प्रदेश में अजित सिंह और मुलायम सिंह यादव का इस वोट बैंक पर कब्जा है। पूर्वी उत्तर प्रदेश में भी अलग-अलग पार्टियों के पास गांव की इन मध्यम जातियों में आधार है। **अब सत्ता के इस विकेन्द्रीकरण के माध्यम से भाजपा ने मध्यम जातियों के कुलकों-फार्मरों के बीच वोट की सेंधमारी का रास्ता खोल लिया है, ताकि वह अपना जनाधार विकसित कर सके।**

कुल मिलाकर, प्रदेश की नयी पंचायती व्यवस्था से जहां एकतरफ गांव-गांव में शिक्षा का निजीकरण करने से लेकर ठेका पद्धति और उजरती गुलामी की प्रक्रिया तेज होगी, वहीं इस पूंजीवादी व्यवस्था का गांवों में भी मजबूत आधार-स्तम्भ बनेगा—लूट की पूंजीवादी बंदरबांट में गांवों की भी हिस्सेदारी बनेगी, और भाजपा को अपना नया चुनावी आधार विकसित करने का रास्ता मिलेगा। •

मेहनतकशों के लिए जरूरी असली 'जनरल नालेज'

चुनाव क्या है?
जनता की गाढ़ी कमाई के करोडों रुपये खर्च करके जनता के ही साथ धोखाधड़ी!

चुनावी नेता क्या है?
पूंजीपतियों के कुत्ते, साम्राज्यवादियों के टट्टू!

आज चुनावी पार्टियों के सफल नेता कौन हो सकते हैं?
चोर, पाकेटमार, ठग, बटमार, तस्कर, दंगाई, गुण्डे, वेश्यागामी, लोफर-आवारे, दलाल, ठेकेदार, सिनेमा के भांड, खूनी, माफिया सरगना और धर्म के व्यापारी!

संसद क्या है?
सुअरबाड़ा! गुण्डों-डकैतों-वेश्यागामियों-भ्रष्टाचारियों का अड्डा। यही आज के पूंजीपतियों के राजनीतिक प्रतिनिधि हैं!

वोट कैसे पड़ते हैं?
जाति-धरम पर जनता को बांटकर, दंगे भड़काकर, नोटों से खरीदकर, बंदूकों से डराकर, गरीबों को लालच देकर!

संसद–विधानसभाओं में क्या होता है?
कुछ दिखावटी बहसें, मारपीट, जूतम-पैजार, और असली काम होता है जनता को लूटने-कुचलने के कानून बनाने का।

सरकार क्या करती है?
देशी-विदेशी पूंजीपतियों की सेवा, उनकी लूट को बढ़ाना और व्यवस्थित करना, जनता को कुचलना, धोखा देना।

भारतीय जनतंत्र क्या है?
पूंजीपतियों की तानाशाही!

तथाकथित जनतांत्रिक संस्थाएं और न्यायपालिका क्या है?
पूंजीवादी शासन के दिखाने के दांत!

और खाने के दांत?
फौज, पुलिस, जेल, नौकरशाही!

न्यायपालिका क्या करती है?
थैलीशाहों के हित में न्याय का व्यापार!

पूंजीवादी न्याय के बुनियादी सिद्धान्त क्या है?
पूंजीवादी न्याय की नजर में गरीब होना ही एक अपराध है! शोषण पूंजीपतियों का जन्मसिद्ध अधिकार है! जुल्म को चुपचाप सहना शरीफ नागरिक का गुण है। जुल्म का विरोध सबसे संगीन जुर्म है!

इस पूरे ढांचे का विकल्प क्या है?

जुल्म के खिलाफ मेहनतकशों और आम लोगों की एकता!
इंकलाबी संगठनों का निर्माण! मौजूदा निजाम के खिलाफ आम बगावत!
पूंजीवाद का नाश!
समाजवाद के उसूलों पर, न्याय और समता पर आधारित एक नये भारत का निर्माण!

स्वत्वाधिकारी डा. दूधनाथ द्वारा 69, बाबा का पुरवा, निशातगंज, लखनऊ से प्रकाशित एवं उन्हीं के द्वारा वानी ग्राफिक्स, अलीगंज, लखनऊ से मुद्रित। कम्पोजिंग: कम्प्यूटर प्रभाग, राहुल फाउण्डेशन, लखनऊ।
संपादक: डा. दूधनाथ। सम्पादकीय पता: द्वारा ओ.पी. सिन्हा, 69, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ- 226 006. सम्पादकीय उपकार्यालय: जनगण होम्यो सेवासदन, मर्यादपुर, मऊ।